मंथन

दीनदयाल शोध संस्थान, नयी दिल्ली का त्रैमासिक पत्र

वर्ष २ अंक २ कार्तिक विक्रमाब्द २०३६ (अक्टूबर १९७९)

निर्मन्थध्वमतन्द्रिताः (श्रीमद्भागवत ८-६-२३)
निरालस्य होकर मंथन करो

विषयानुक्रमणिका

प्रजातन्त्र का अभिप्राय ५

मध्ययुगीनता और आधुनिक युगबोध
डा० रामचन्द्र पाण्डेय ९

न्याय और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य
डा० देवराज १३

प्राचीन भारतीय कला-चिन्तन
के कतिपय पक्ष डा० राधावल्लभ त्रिपाठी २१

भारतीय श्रमिक-आन्दोलन
ओमप्रकाश एवं शीतलाप्रसाद ३३

मध्ययुगीन संक्रान्ति-बिन्दु :
श्री गुरु अमरदास का क्रान्ति-दर्शन
डा० चन्द्रशेखर ४५

नैतिकता, धर्म और राजनीति—
गांधीजी की दृष्टि में डा० वेदप्रकाश वर्मा ५३

गांधी, लोहिया और दीनदयाल :
विचारों में कितने निकट, कितने दूर ?
डा० हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल ५९

बौद्धकालीन भारत के शिक्षा-केन्द्र शम्सुद्दीन ७५

पुस्तक-समीक्षा ७८

आपके पत्र ८१

जब तबला बाजे धीन धीन ८, अपना दण्ड २०,
कला की कसक ३२, गांधी और हेडगेवार ५८,
क्या धर्मराज्य का अर्थ 'थ्योकेटिक स्टेट' है ? ७४,

सम्पादकीय परामर्श-परिषद्

डा० वी० एम० दाण्डेकर
डा० आर० आर० दिवाकर
डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी
डा० विश्वनाथप्रसाद वर्मा
डा० शिशिरकुमार घोष
श्री जैनेन्द्रकुमार
डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय
डा० आत्माराम
प्रो० खालिक अहमद निजामी
डा० दामोदरप्रसाद सिंहल
श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी
प्रो० के० आर० श्रीनिवास आयंगर
डा० एस० भगवन्तम

सम्पादक

श्री पी० परमेश्वरन — सम्पादक
डा० हरिश्चन्द्र बथ्वाल — संयुक्त सम्पादक

कार्यालय

दीनदयाल शोध संस्थान
७ ई, स्वामी रामतीर्थ नगर,
नयी दिल्ली-११००५५

शुल्क

एक प्रति — रु० ५-००
वार्षिक :
भारत, पाकिस्तान, बंगला देश, श्रीलंका — रु० २०-००

एशिया, अफ्रीका एवं यूरोप
(वायु-मार्ग से) — £ ७-००

अमेरिका, कनाडा और द० अमेरिका
(वायु-मार्ग से) — $ १३-००

"एक समय ऐसा था कि कांग्रेस के टिकट पर खड़े होने पर सड़क के खंभे को भी जनता मत दे सकती थी। प्रथम आम चुनाव में आचार्य नरेन्द्रदेव और आचार्य कृपलानी जैसे दिग्गज नेता ऐसे कांग्रेसी उम्मीदवारों के हाथों पराजित हो गये, जिनकी इनकी तुलना में कोई हस्ती नहीं थी। अब 'सड़क के खंभे' वाला युग बीत गया है। किन्तु ऐसी संभावना भी है "कि घड़ी का 'पेण्डुलम' दूसरी दिशा में झुक जाय। एक सज्जन ने हाल ही में यह उद्‌गार व्यक्त किया कि वे कांग्रेसी उम्मीदवार के बदले मील के पत्थर के लिये मतदान करना पसन्द करेंगे। चाहे आप कांग्रेस में अपने विश्वास के कारण 'सड़क के खंभे' का चुनाव करें या कांग्रेस के प्रति अपनी घोर घृणा के कारण 'मील के पत्थर' का, आप समान रूप से गलत हैं। यह मस्तिष्क के रोगी होने एवं मार्ग-च्युत होने का द्योतक है।

"न तो 'मील के पत्थर' को चुनिए, न 'सड़क के खम्भे' को। वे आपका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। यदि वे सदन में पहुंच गये तो स्थिति पर विचार करने के आपके दृष्टिकोण एवं आपके निर्णय की क्षमता को ही प्रति-भासित करते रहेंगे। इसलिये आप अपना स्वतः का प्रतिनिधि चुनिए।

"आपको एक अच्छा व्यक्ति चाहिए। किन्तु एक अच्छा व्यक्ति किसी बुरे दल में रहकर प्रभावकर नहीं सिद्ध होगा। बड़ा से बड़ा वीर भी टूटे या भोथरे हथियार के सहारे सफल नहीं होगा। इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिये राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन का उदाहरण पर्याप्त है।

"किन्तु अच्छा दल कौन है ? स्पष्ट ही वह, जो व्यक्तियों का केवल एक समूह मात्र नहीं है, बल्कि सत्ता हस्तगत करने की इच्छा से अलग, एक विशिष्टि उद्देश्य से युक्त अस्तित्व वाली संस्था है। ऐसे दल के सदस्यों के लिये राजनीतिक सत्ता साध्य नहीं, साधन होनी चाहिए। दल के छोटे-बड़े सभी कार्यकर्त्ताओं में किसी उद्देश्य के प्रति निष्ठा होनी चाहिए। निष्ठा से स्वार्पण और अनुशासन की भावना आती है। अनुशासन का अर्थ केवल कतिपय कार्य करने या न करने की बाह्य एकरूपता नहीं है। ऊपर से आप जितना ही अनुशासन लायेंगे, दल की आन्तरिक शक्ति उतनी ही कम होगी। किसी दल के लिये अनुशासन का वही स्थान है, जो समाज के लिये धर्म का।

"यदि कार्यकर्त्ताओं में निष्ठा और अनुशासन की भावना रही तो दल के अन्दर कोई गुट या मतभेद नहीं होगा। जब दल का हित स्वहित के आगे दब जाता है, तब गुट-बाजी प्रारम्भ हो जाती है। यह एक अहंकारी एवं विकृत चिन्तन की सामाजिक अभिव्यक्ति है।

"एक अच्छे दल का तीसरा गुण यह है कि उसे कतिपय आदर्शों से आबद्ध होना चाहिए और उसकी सारी नीतियां उन्हीं आदर्शों की प्राप्ति के दृष्टिकोण से तैयार की जानी चाहिए। यह सच है कि प्रशासन का अति व्यावहारिक कार्य स्थितियों के सैद्धान्तिक विश्लेषण पर आधारित नियमों के साथ मेल नहीं खा सकता, किन्तु होशियारी और अवसरवादिता को 'यथार्थवाद' का स्थान नहीं मिलना चाहिए। यथार्थवाद आदर्शवादी, सिद्धान्तवादी और प्रेरणापन्न व्यक्ति के लिये एक पवित्र वस्तु है, परन्तु छिछले आदर्श अले, अबूसरवादी तथा दोलायमान व्यक्ति के लिये उसका कोई महत्व नहीं।"

—दीनदयाल उपाध्याय

प्रजातन्त्र का अभिप्राय

भारत पर चीनी आक्रमण से पूर्व के तनावपूर्ण दिनों में सीमावर्ती पर्वतीय क्षेत्रों के लोग स्वयं को सीमा के बहुत निकट और सम्भावित युद्धक्षेत्र के अन्तर्गत मानकर कुछ आशंकित थे। तभी एक दिन एक अत्यन्त वयोवृद्ध हरिजन को कहते सुना था—"(पुराने लोग) कहते तो यह थे कि राजा लोग अपनी लड़ाई में प्रजाओं को नहीं छेड़ते। लड़ाई राजाओं की ही होती है। पता नहीं चीन क्या करेगा।" १९६२ का सीमा-संघर्ष तो शायद अपेक्षाकृत साधारण घटना थी, पर इन वाक्यों का स्मरण आते ही एक सहस्र वर्ष से अधिक का इतिहास आँखों के आगे आ जाता है। छठी कक्षा में हमें इतिहास में पढ़ाया गया था कि विदेशी आक्रमणकारियों से भारत की पराजय के कारण क्या-क्या थे, पर ऐसा लगता है कि जो पढ़ाया नहीं गया था वह उक्त वृद्ध व्यक्ति के उद्गारों में निहित है, जिसके अनुसार लड़ाई राजाओं की आपसी बात है, प्रजा उससे तटस्थ है और यह अपेक्षा कर सकती है कि आक्रमणकारी अपनी लड़ाई केवल राजा से करेगा और प्रजा को नहीं छेड़ेगा। युद्ध में जो जीतेगा, प्रजा उसकी हो जायेगी। "कोउ नृप होइ हमें का हानी, चेरि छांड़ि हुइ-हैं नहि रानी"—तुलसीदास जी की यह आधी चौपाई रामचरित मानस की एक प्रासंगिक उक्ति मात्र नहीं, वरन् मध्ययुग की महत्वपूर्ण लोकोक्ति प्रतीत होती है, जिसमें उस युग का लोकमानस प्रतिबिम्बित हुआ है।

सीमित संख्या में आक्रमणकारी, जिनका किसी महत्वपूर्ण कला-कौशल या उन्नत सभ्यता से कोई सम्बन्ध नहीं था, मात्र अपनी आक्रामक प्रवृत्ति से ही इतने बड़े देश को अपना आखेट समझकर जब-तब रौंदते रहे और छिटपुट सेनाओं के अतिरिक्त शेष करोड़ों जनता ने उनको रोकने के लिये कुछ करने की बात शायद सोची ही नहीं। जनसाधारण ने राष्ट्रीय संकट को, अपने से असम्बद्ध, केवल राजाओं की लड़ाई समझा और जब राजा हार गया, बर्बर शत्रु के क्रूर सैनिक अत्याचार करने लगे तो इतना बड़ा समाज अनाथ की तरह पिटता रहा। राजा राम के देश में राजा और प्रजा की यह भावनात्मक असम्बद्धता, संवादहीनता क्यों उत्पन्न हुई? इतनी बड़ी जनसंख्या ने स्वयं को असहाय और असमर्थ क्यों अनुभव किया? इस पर यदि

विचार नहीं किया गया तो उस प्रकार नहीं तो किसी और प्रकार से, यह विशाल जनसंख्या पुनः-पुनः पिटती रहेगी। पिछले आपात्काल में भी तो पिटी थी।

पुराने समय में जब से राजाओं और सामन्तों ने स्वयं को राज्य का संरक्षक न समझकर स्वामी मान लिया, उसे उत्तरदायित्व की वस्तु न समझकर उपभोग की वस्तु मान लिया तथा अपने लिये शासक और जनसमाज के लिये शासित का स्तर निश्चित कर दिया तो प्रजा भी राज्य के कुशल-क्षेम के प्रति उदासीन हो गयी। उसने स्वयं को भाग्य के भरोसे मान लिया। राष्ट्र-चेतना सुप्त हो गयी। परिणाम वही हुआ जो ऐसे देश में हो सकता था। देश आततायियों द्वारा आक्रान्त होता रहा, लोगों की समझ में आया ही नहीं कि ऐसे में वे क्या कर सकते हैं।

स्वातन्त्र्य-चेतना इस देश की संस्कृति में रची-बसी हुई है, परन्तु संगठन-चेतना या सामाजिक एकता में हम बहुत पीछे रहे हैं। अतएव हमारी राष्ट्र-चेतना प्रायः अधूरी रही है। इस अर्धचेतन अवस्था का लाभ उठाकर ही मुट्ठीभर, परन्तु संगठित, आक्रमणकारी हमारी स्वतन्त्रता का अपहरण करने में सफल रहे। और, दासता की अवधि लम्बी होने से तो अधिकांश लोग अपनी स्वातन्त्र्य-चेतना भी खो बैठे। राष्ट्र मानो मूर्च्छित हो गया। राणा प्रताप और शिवाजी के जैसे इने-गिने जीवटपूर्ण प्रयत्नों से भी इतने बड़े राष्ट्र की मूर्च्छा पूर्णतः टूट नहीं पायी। लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी और अन्य भी अनेक कर्मयोगियों के अथक प्रयासों से राष्ट्र में तात्कालिक चेतना आयी, देश स्वतन्त्र भी हुआ, किन्तु तन्द्रा अब भी पूर्णतः गयी नहीं है। समाज के विराट् भाव या संगठन-चेतना के पुष्ट हुए बिना केवल स्वातन्त्र्य-चेतना का उबाल राष्ट्र को अधिक समय तक जाग्रत नहीं रख सकता और उसके बिना राष्ट्र की स्वतन्त्रता एक प्रकार से नहीं तो किसी दूसरे प्रकार से फिर भी संकट में पड़ सकती है। इस संभावना को महात्मा गांधी जैसे युगपुरुष के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के चलते हुए भी डा. हेडगेवार की दूरगामी दृष्टि ने देख लिया था, इसीलिए उन्होंने स्वातन्त्र्य-अभियान का पूरक संगठन-अभियान प्रारम्भ किया। जाग्रत राष्ट्र-चेतना के दो परस्पर पूरक अं हैं—स्वातन्त्र्य-चेतना और संगठन-चेतना। इनमें किसी भी एक के बिना दूसरा निष्फल हो जाता है— संगठन के बिना स्वतन्त्रता क्षणभंगुर सिद्ध होती और स्वतन्त्रता के बिना संगठन बन्धन बनकर जाता है। स्वस्थ राष्ट्रीयता में ये दोनों आवश्यक हैं— सम्यक्, सन्तुलित रूप में।

स्वातन्त्र्य-चेतना स्वरूप-चेतना या "चिति" है। अप परम्परा का गौरव इसीसे विकसित होता है तथा इसी उचित या अनुचित का विवेक प्रदान करने वाले नीति मूल्य निर्धारित होते हैं। यह संस्कृति का केन्द्र-बिन्दु है

संगठन-चेतना सामाजिक चेतना है, जिससे सम्पूर्ण समा के साथ एकात्मता और अपने विराट् रूप की अनुभू होती है। सामाजिक सुव्यवस्था—जिसमें मानव सामाजिक, आर्थिक स्वतन्त्रताएँ भी सम्मिलित हैं—इसी विकसित होती है। इसके अतिरिक्त सामाजिक चेतना मनुष्य को भयमुक्त करती है। भीड़ में मनुष्य एकाकी या अकेलापन अनुभव करता है। वहाँ किसी भी संघ में उसका भयभीत हो जाना स्वाभाविक है। समाज में रहने की सार्थकता यही है कि उसमें सबको अपने सम्मिलित विराट्भाव का अनुभव हो, संकट में कोई एकाकी न रहे—आततायी से भयभीत न हो तथा वह के हाथों छला न जाय।

आपातकाल की ठंडी, अन्धेरी, पीड़ा भरी रात में समाज के विराट् भाव की न्यूनता का परिणाम हम देख चुके हैं, जब एक व्यक्ति की निरंकुश प्रताड़ना के समक्ष सारे देश के सार्वजनिक स्थलों पर स्वातन्त्र्य-चेतना की कुलबुलाहट भयभीत होकर चुप रह गयी थी। फिर भी सौभाग्य से वह अवधि लम्बी नहीं हुई। विगत स्वतन्त्रता-संघर्ष से जगी व्यापक स्वातन्त्र्य-चेतना अभी समाप्त नहीं हुई थी, इसलिये १९७७ के महानिर्वाचन में वह खुल कर अभिव्यक्त हुई और निरंकुशता का अन्त हो गया। परन्तु क्या उसके बाद जनमत की अवहेलना समाप्त हो गयी है? क्या राज-नेताओं को उस जन-समाज के प्रति उत्तरदायित्व की कोई चिन्ता है, जो उनको चुन कर ऊँचे पदों पर

बैठाता है ? एक मुखौटा लगा कर जिस जनता के पास उसका मत माँगने गये थे, उसकी चिन्ता किये बिना घात लगाकर अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिये रातोंरात मुखौटे बदल लिये। और जब वह घृणित खेल भी अधिक दिन नहीं चला तथा फिर से उसी जनता के सामने जाने की आवश्यकता आ पड़ी तो अब अपने चुनाव-क्षेत्र बदल रहे हैं। एक क्षेत्र के मतदाताओं को ठग लिया तो उसके लिये कोई लज्जा नहीं, अब वहाँ नहीं दाल गलेगी तो किसी दूसरे क्षेत्र के मतदाताओं से ठगी करेंगे।

यह सब क्यों सम्भव होता है ? इसलिये न, कि ये नेता जानते हैं कि समाज विशृंखलित है, उसमें कोई सार्वभौम संगठित चेतना नहीं है। उससे चाहे कितनी ही बार धोखा करो, बार-बार उसे जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्रीयता जैसे कितने ही प्रश्नों पर अनेक टुकड़ों में बाँटकर इस या उस बहाने से मत प्राप्त किये जा सकते हैं। कुछ लोगों की राजनीति का तो सूत्र ही यही है कि भारतीय संस्कृति या राष्ट्रवाद के आधार पर होने वाली एकता को जातिवाद फैलाकर तोड़ दो। एक ओर राष्ट्र-समाज की एकता के लिये कार्य करने वाली शक्तियाँ हैं, दूसरी ओर किसी भी बहाने से समाज को विघटित करने वाली शक्तियाँ। परन्तु समाज के लिये क्या यह उचित होगा कि वह मात्र दर्शक बना रहे ? लोग मात्र दर्शक बने रहेंगे तो संगठित कौन होगा ? और समाज एक होकर अपनी विराट् शक्ति का प्रदर्शन नहीं करेगा तो पुराने दिनों की राजाओं की लड़ाई का स्थान भले ही राजनेताओं की लड़ाई ले ले, जन-समाज उनकी मनमानी में पिसता रहेगा। जनतन्त्र इस आशा के सहारे तटस्थ रहने के लिये तो नहीं है कि राजा अपनी लड़ाई में प्रजा को नहीं छेड़ेंगे। प्रजातंत्र का अभिप्राय यही है कि जनसमाज किसी भी शासक को यह मानने का अवसर न दे कि राज्य उसकी निजी सम्पत्ति है या वह जनमत की उपेक्षा कर सकता है।

कितने बड़े आश्चर्य की बात है कि राजनीति के गिने-चुने वंचक और विद्रूपक इतने बड़े जनतंत्र को मूर्ख बनाकर इसे विश्व में उपहास का पात्र बना दें और यह विशाल जनसागर उनका मुँह देखता रह जाय।

आज कहा यह जा रहा है कि राजनीतिज्ञों के भ्रष्ट चरित्र को देखकर लोगों का उनमें से विश्वास उठ गया है। पर प्रश्न तो यह है कि उनमें से विश्वास उठ जाने के बाद हम अपने और अपने देश की व्यवस्था के लिये क्या करने जा रहे हैं ? क्या यह कि चुनाव के लिये चाहे जो खड़ा हो, हम तो अब मतदान नहीं करेंगे ? लोग अपने जनतांत्रिक कर्तव्य को पूरा नहीं करेंगे तो क्या सरकारें बननी बन्द हो जायेंगी ? कुछ लोगों के हताश होकर कर्तव्य-विमुख हो जाने से क्या अवांछनीय तत्त्व राजनीति छोड़ देंगे ? या उन्हें और भी खुल खेलने का अवसर मिलेगा ? अवांछनीय को यदि हटाना है तो कर्तव्य करना होगा, एक-दो बार नहीं, बार-बार—तब तक, जब तक सफलता न मिल जाय।

राजनीति को दूषित बताकर कर्तव्यविमुख होने से दूषण के दुष्प्रभाव से बचा नहीं जा सकता। राजनीति स्वयं दूषित कैसे हो सकती है ? आज वह दूषित हुई है तो इसलिये कि दूषित चरित्र वाले लोग उसमें पैठ गये हैं और अपने ही संकल्प-बल की न्यूनता के कारण पंगु बने समाज की दुर्बलता का लाभ उठाकर वे प्रभावशाली बन गये हैं। वे ठीक मार्ग पर आ सकते हैं यदि समाज अपने विराट् स्वरूप को पहचाने और इसे साकार करने के लिये आवश्यक है कि वह प्रत्येक व्यक्ति, जो स्वयं जाग्रत हो गया है, अगले व्यक्ति को भी जगाये—उसे उसके विराट् से परिचित कराये।

—हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल

जब तबला बाजे धीन धीन

बैरगिया नाम का एक नाला है, जो एक बार ठगों के आश्रयस्थल (अड्डे) के रूप में कुख्यात हो गया था। वहाँ चोर और ठग साधुओं के वेष में रहते थे और उस मार्ग से आने-जाने वाले पथिकों को ठगा या लूटा करते थे। गेरुवे वस्त्र पहनकर मार्ग में बैठा एक चोर किसी भी राहगीर के आते ही परोपकारी साधु का स्वांग करके उससे यात्रा का दुःख-कष्ट पूछता और शीतल जल पीने तथा छाया में बैठकर थकान मिटाने का आग्रह करता। फिर वह बातों ही बातों में यह पता लगाता था कि यात्री के पास धन है या नहीं। धन या "दाम" वाला व्यक्ति फँसने की सूचना कुछ दूर पर बैठे अपने साथी ठग को देने के लिये वह ऊँचे स्वर में भगवन्नाम बोलता था "दामोऽदर, दामोदर"। तब दूसरा धूर्त आता और पथिक को छलने के अनेक उपाय करता। जब वे देखते थे कि पथिक छलने में नहीं आता तो चिल्लाते "वासुदेऽव, वासुदेऽव" और यह संकेत पाते ही उनका तीसरा साथी बाँस का लट्ठ लिये आता और पथिक पर टूट पड़ता था। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति बैरगिया नाले से बिना लुटे जा नहीं सकता था।

एक बार नौ नृत्य-कलाकारों की मण्डली उस मार्ग से कहीं जा रही थी। चोरों ने उन्हें भी घेर लिया और जब उनके पास तबले-तम्बूरे के अतिरिक्त कुछ मिला नहीं तो आदेश दिया कि और कुछ नहीं है तो नाच ही दिखाओ। विवश होकर वे नाचने की तैयारी करने लगे, पर उनमें से एक व्यक्ति को बड़ा सोच हुआ कि हम नौ लोग हैं और ये तीन चोर हमें नचा रहे हैं। वह उठा और नाचने के बहाने हाव-भाव के साथ समझाते हुए गाने लगा—

"जब तबला बाजे धीन धीन
तब एक एक पर तीन तीन"

और जैसे ही तबले पर "धीन धीन" हुई, हर चोर पर तीन-तीन लोग झपट पड़े तथा चोरों को ऐसी सीख दी कि वे ठगी और लूट का धन्धा करना भूल गये।

□

डा० रामचन्द्र पाण्डेय

मध्ययुगीनता और आधुनिक युग-बोध

किसी पर्व या त्यौहार के अवसर पर घोड़ा, बैल, ऊंट, रथ आदि को सजाकर बाजे-गाजे के साथ शोर मचाते हुए जुलूस निकालना भारत के हर कोने में एक आम बात है। इन जुलूसों में तलवारों, भालों, बन्दूकों, तीर-कमान, पटाखों आदि का प्रदर्शन परमाणु अस्त्रों के वर्तमान युग का मखौल उड़ाता प्रतीत होता है। भांगड़ा और इसी प्रकार के अन्य प्राचीन-नवीन उछल-कूद-प्रधान नृत्य, ढोल, नगाड़ा, झांझ, बैंड आदि शोर के साधनों का माइक के द्वारा पूरी तीव्रता के साथ प्रसार, जै-जै कार, नारे-बाजी के बीच फिल्मी शैली के सिर चकरा देने वाले गीत-भजन के नाम पर चलने वाले प्रलाप इत्यादि ऐसे आयोजन हैं जिनका वस्तुतः आधुनिक जीवन-मूल्यों के साथ कोई सामंजस्य नहीं दिखायी देता। पर इस प्रकार के प्रदर्शन दिनोंदिन बढ़ते जा रहे हैं। पहले विशेष पर्वों पर ऐसे आयोजन वर्ष में एकाध बार हुआ करते थे, पर अब इनके लिये पर्वों की, अवसरों की उद्भावना कर ली जाती है। पहले जिन अवसरों पर ऐसे आयोजन नहीं हुआ करते थे, अब उन अवसरों पर भी इनकी बहुलता हो गयी है। ऐसी बात नहीं कि ये आयोजन सार्वजनिक स्तर पर ही हो रहे हों, विवाह जैसे व्यक्तिगत अवसरों पर, जातीय समाजों-वर्गों के उत्सवों आदि पर भी इन आयोजनों की भरमार देखने को मिलती है।

प्रश्न यह है कि इस प्रकार के आयोजनों के पीछे क्या उद्देश्य है? सीधा उत्तर तो यही है कि आयोजन करने वाले अपनी प्रसन्नता और श्रद्धा इन आयोजनों के माध्यम से व्यक्त करते हैं। पर कुछ गहराई से सोचें तो शायद हमें कुछ और बातें दिखायी देने लगें। श्रद्धा प्रकट करने का यह विशेष माध्यम इसलिये नहीं चुना जाता कि इसका अन्य विकल्प नहीं है। श्रद्धा एक गम्भीर और आदरपूर्ण मनःस्थिति है, जो मौन रहकर, ध्यान करके, शालीनता के साथ शायद अधिक उपयुक्त ढंग से व्यक्त की जा सकती है। श्रद्धा व्यक्ति का आराध्य के साथ सीधा संबंध है—इस संबंध में तड़क-भड़क के प्रदर्शन, शोर-शराबे आदि का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। मैं यदि राम या कृष्ण के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा प्रकट करता हूँ तो मेरी श्रद्धा किसी प्रकार से न्यून नहीं होगी यदि मैं चुपचाप, बिना किसी को बताये, एकान्त में इष्ट का ध्यान करता हूँ। प्रदर्शन की वह विशिष्ट मनो-

वृत्ति, जो आधुनिक जुलूसों में परिलक्षित होती है, कदापि श्रद्धा से प्रसूत या उसकी सहचरी नहीं हो सकती। वास्तविक श्रद्धा का प्रदर्शन से विरोध है।

लोग कहते हैं कि जुलूस और अन्य प्रदर्शन इसलिये आवश्यक हैं कि लोग प्रदर्शन करने वालों के मतों के प्रति आकृष्ट हों और इनके माध्यम से लोगों की आस्था और दृढ़ हो। हिन्दू इसलिये जुलूस निकालता है कि अनास्थावान हिन्दुओं, बच्चों, स्त्रियों में हिन्दू धर्म के प्रति रुचि जागृत हो; लोग अधिकाधिक संख्या में हिन्दुत्व में प्रतिष्ठित हों, उसके बारे में जानें-सोचें। मुसलमानों, सिखों आदि के साथ भी यही बात लागू होती है। परन्तु इस तर्क का भी खोखलापन इस बात से स्पष्ट है कि आस्था के स्थापन और दृढ़ीकरण के अन्य सौम्य साधनों के होते हुए वर्तमान स्वरूप में प्रदर्शनों का अपनाया जाना आस्था के स्थापन का साधन नहीं है। लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये उछल-कूद मचाने, तलवार, लाठी, भाले भाँजने की पद्धति धर्म जैसे शालीन, सौम्य और समर्पणपूर्ण जीवन का अपमान करती है। यदि कोई व्यक्ति चमकती तलवारों के दृश्य देखकर, ऊंट, हाथी, घोड़े से प्रभावित होकर हमारे धर्म में आस्थित होता है तो अच्छा होगा कि ऐसा व्यक्ति हमारे धर्म से दूर ही रहे। ऐसा व्यक्ति धर्म को तलवार की चमक से, ऊंटों-घोड़ों से या फिल्मी शैली के भांगड़ा नाचते हुए गानों से अलग करके कभी नहीं सोच सकता। वास्तविक बात तो यह है कि प्रदर्शनकारी आस्था को दृढ़ करने के लिये नहीं, बल्कि आस्था रखनेवालों की शारीरिक, सांगठनिक-सामाजिक व आर्थिक स्थिति को दिखाने के लिये इन प्रदर्शनों का आयोजन करते हैं।

दिखाने का संबंध एक ओर अपने को दूसरों से अधिक बलशाली, वैभवशाली सिद्ध करने की लालसा से है तो दूसरी ओर दूसरों के मन में आतंक पैदा करने से है। कहने का तात्पर्य यह है कि जुलूस आदि प्रदर्शनों का सीधा संबंध प्रदर्शन करने वालों से भिन्न वर्ग के लोगों से है। बल और वैभव के प्रदर्शन के द्वारा अपने विरोधियों को आतंकित करने की प्रथा मध्ययुग की सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है। ऐसे अनेक उदाहरण इतिहास से दिये जा सकते हैं, जहाँ अपने को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाने की होड़ में कई राजा, सामंत और श्रीमंत लोग ऋण लेने से भी नहीं हिचकिचाते थे। फलस्वरूप दिखावे में ही उन्होंने अपना सबकुछ गँवा दिया। ऐसी स्थिति न केवल भारत में, अपितु मध्ययुगीन यूरोप में भी व्यापक रूप में रही है।

चूंकि दिखाने में दूसरों पर प्रभाव जमाना मुख्य उद्देश्य होता है, इसलिये दिखायी जाने वाली वस्तु से अधिक, जिस अधिकाधिक प्रभावोत्पादक ढंग से वह वस्तु दिखायी जा रही है, उसका महत्व होता है। उदाहरण के लिये मणिसे अधिक मणि के अलंकरण का, व्यक्ति से अधिक व्यक्ति के आकार का, व्यक्ति के वास्तविक प्रभाव से अधिक प्रभाव को बतानेवाली औपचारिकता का महत्व होता है। विषय-वस्तु की अपेक्षा आकृति को अधिक महत्व देने के कारण ही मध्ययुग में दिखावे की प्रवृत्ति ने सौन्दर्य के क्षेत्र में अलंकरण को, कविता के क्षेत्र में अलंकारों को, राजशासन में औपचारिकता एवं आकारिकता को जन्म दिया। धर्म में भी पूजा-उपासना की पद्धति प्रधान हो गयी, धार्मिक भावना को गौण स्थान मिला। कुल मिलाकर, दिखाने की भावना का तार्किक दृष्टि से विशुद्ध प्रक्रिया ('करेक्ट प्रोसीजर') और औपचारिकता या आकारिकता ('फार्मालिटी') के साथ गहरा संबंध है।

'फार्मालिटी' या आकारिकता के प्रति अतिशय मोह के कारण कभी-कभी विषय-वस्तु का भी तिरस्कार कर दिया जाता रहा है। मध्य युग के ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब अपराधी को उसके अपराध की गंभीरता परखे बिना केवल इसलिये कठोर दंड द दिया जाता था कि उसका अपराध एक प्रकार के न्याय-आकार की सीमा में आ जाता था या उसके अपराध से किसी स्वीकृत आकार का उल्लंघन होता था। शासक के सामने सिर न झुकाने के कारण मृत्युदंड की अनेक घटनाएँ ज्ञात हैं। राम-भक्त कृष्ण की मूर्ति के सामने, शैव वैष्णव मन्दिर के सामने या हिन्दू मस्जिद के सामने यदि स्वीकृत आकार और परंपरा के अनुसार आदर नहीं प्रकट करता तो उसे दंड भुगतना पड़ता था। विचार के क्षेत्र में भी आकार और विषय के इस संघर्ष को देखा जा सकता है। दर्शन में विशेष तार्किक शैली का विकास नव्य

न्याय के नाम
दार्शनिक विना
दार्शनिकों के
कारण है कि वै
सक सभी को

मध्ययुग की स
के अपवाद के
बच निकलने
एक ओर अन्य
पूरा पालन क
रिकता को ला
लागू होती थी
में नीचे से ऊ
था। अपवाद
खोरी आदि क

मध्ययुग समाप्त
सामंती प्रथा
गया। सत्ता,
हो, विकेन्द्रित
के विकास ने
के मूल्य बदले
ज्यों की त्यों
आधुनिक बोध
पर आदत के
अनदेखा करने
कारण अन्यत्र
दृढ़ पाने के का

किस प्रकार म
पर आरूढ़ है,
में किया गया
हमारे जीवन
कर प्रस्तुत कर
हम जो हैं, जैसे
मान समझते हैं
मानते हैं तो दू
गले से लगाये

न्याय के नाम से मध्ययुग में ही हुआ। तदनन्तर कोई दार्शनिक बिना उस नव्य न्याय की शैली को अपनाये दार्शनिकों के बीच स्थान नहीं पा सकता था। यही कारण है कि वैयाकरण, साहित्यशास्त्री, वेदान्ती, मीमांसक सभी को नव्य न्याय की शैली अपनानी पड़ी।

मध्ययुग की सामन्ती व्यवस्था में आकारिक व्यापकता के अपवाद के रूप में सामन्त लोग आकारिकता से स्वयं बच निकलने का भी मार्ग निकाल लेते थे। इसलिये एक ओर अन्य लोगों को आकारिक औपचारिकता का पूरा पालन करना होता था, परन्तु दूसरी ओर आकारिकता को लागू करने वालों पर वह आकारिकता नहीं लागू होती थी। इस दुहरे मानदंड के आधार पर समाज में नीचे से ऊपर तक दिखावे का बड़ा महत्व हो गया था। अपवाद के फल की लालसा से चाटुकारिता, घूसखोरी आदि को खुली छूट मिली।

मध्ययुग समाप्त हुआ, आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ। सामंती प्रथा और राजतंत्र के स्थान पर लोकतंत्र आ गया। सत्ता, चाहे वह राजनीतिक, धार्मिक या आर्थिक हो, विकेन्द्रित हुई। व्यक्ति को महत्व मिला। विज्ञान के विकास ने व्यक्ति के सोचने का ढंग बदला। जीवन के मूल्य बदले। परन्तु लोगों की मध्ययुगीन मनोवृत्ति ज्यों की त्यों बनी हुई है। मध्ययुगीन मनोवृत्ति और आधुनिक बोध के बीच यद्यपि बहुधा विरोध होता है, पर आदत के कारण आज का व्यक्ति इस विरोध को अनदेखा करके आधुनिक जीवन की विसंगतियों का कारण अन्यत्र ढूंढने का प्रयत्न करता है और कारण न ढूंढ पाने के कारण कुंठाओं का शिकार बनता है।

किस प्रकार मध्ययुगीनता आज भी हमारी जीवन-पद्धति पर आरूढ़ है, इसका एक चित्रण इस निबन्ध के प्रारम्भ में किया गया है। दिखावे की प्रवृत्ति इस सीमा तक हमारे जीवन में बढ़ गयी है कि हमें अपने को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करने में असत्यता का आभास ही नहीं होता। हम जो हैं, जैसे हैं, उसे स्वीकृत करने में हम अपना अपमान समझते हैं। हम एक ओर लोकतंत्र को एक मूल्य मानते हैं तो दूसरी ओर वर्गों में ऊंच-नीच के भेद को भी गले से लगाये रहते हैं। यदि सभी नागरिकों को समान अधिकार हैं, तो फिर सत्तारूढ़ और विपक्ष में इतना संघर्ष क्यों? सत्तारूढ़ वर्ग को सत्ता से च्युत करने में ही विपक्ष की सारी शक्ति क्यों व्यय होती है? होना तो यह चाहिए था कि सत्ता के बिना भी विपक्ष वे सारे रचनात्मक कार्य करता, जो सत्तारूढ़ वर्ग करता है। इंगलैण्ड में क्या कोई विपक्ष सत्तारूढ़ वर्ग को हराने के लिये सत्याग्रह-आन्दोलन, तोड़-फोड़ आदि करके पुनः सत्ता में आने का प्रयत्न करता है? शायद नहीं। पर अपने देश में तो सत्ताच्युत विपक्षी उस मध्ययुगीन राजा के समान हैं, जो राज्य से च्युत होने पर फिर अपनी सेना संगठित करके खोया राज्य पाना चाहता है। इसी तरह सत्ता में स्थित व्यक्ति या समुदाय सामन्ती दरबारियों की तरह अपने लिये अधिकाधिक शक्ति, धन और जन बटोरकर दूसरों से अपने को विशिष्ट दिखाना चाहता है। आकारिक दृष्टि से यहाँ भले ही लोकतंत्र अपनाया गया हो, पर मनोवृत्ति वस्तुतः वही मध्ययुगीन है।

लोकतंत्र के भीतर सबको अपना मत प्रकट करने का समान अधिकार मिला है, परन्तु बहुमत का निर्णय मानना लोकतंत्र की सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता है। हमारे यहाँ लोग इसलिये रुष्ट होते हैं, अभद्र-अश्लील व्यवहार करते हैं कि वे जो चाहते हैं, बहुमत उसे क्यों नहीं मानता। व्यक्ति के मत को बहुमत पर थोपना लोकतांत्रिक नहीं, सामन्तवादी, मध्ययुगीन प्रक्रिया है। इसी कारण हमारे यहाँ लोकतंत्र होते हुए भी व्यक्ति-पूजा सर्वोपरि है।

जिस प्रकार मध्ययुग में राजा के लिये सारे आकारिक नियमों का अपवाद मान्य था, उसी प्रकार जनतंत्री भारत में सत्तारूढ़ मंत्रियों और उनके 'मसाहिबों' को भी वे सारी सुविधाएं प्राप्त हैं जो साधारण व्यक्ति को बड़े परिश्रम और भाग्य से मिल पाती हैं। चाहे कोई व्यक्ति अपने आप में कितना ही योग्य क्यों न हो, पर जब तक किसी सत्ताधारी की कृपा उस पर न हो, तब तक उसकी योग्यता का कोई मूल्य नहीं है। कृपा हो जाने पर मूल्य पूरा का पूरा मिलता है, चाहे योग्यता कुछ भी न हो। राजा जिसकी सेवा से प्रसन्न हो जाता था, उसको पात्रापात्र का विचार किये बिना बहुत कुछ दे दिया करता था। आज की स्थिति इससे अधिक अच्छी नहीं है।

भारत में प्रदर्शनों की वर्तमान राजनीति का संबंध भी इसी मध्ययुगीन मनोवृत्ति से है। बड़ी से बड़ी भीड़ जुटा कर विपक्षी को हतप्रभ करने की प्रक्रिया उसी शृंखला की कड़ी है। जो हमारे समूह में सम्मिलित नहीं है, उसे यह दिखाकर अपने पक्ष में लाने के हथकंडे अपनाये जाते हैं कि हमारे पक्ष में बहुत अधिक लोग हैं और बहुमत का साथ देना ही लोकतंत्र में लाभदायक होता है।

लोकतंत्र का मूल आधार व्यक्ति की स्वतंत्रता और व्यक्तियों के बीच सीधे संबंध हैं। व्यक्तियों के बीच औपचारिकता को हटाकर ही अधिकारीतंत्र (नौकरशाही) जैसी मध्ययुगीन प्रथा का अन्त किया जा सकता है। परन्तु हमारे लोकतंत्र में अधिकारीतंत्र को इतना अधिक वास्तविक अधिकार मिल गया है, जितना शायद संसद को भी नहीं है। समुचित प्रक्रिया (करेक्ट प्रोसीजर) के अभाव में संसद के स्पष्ट निर्देशों तक का पालन नहीं हो पाता। नौकरशाही का आज भी वही स्थान है, जो मध्ययुग में राज-सभा (दरबार) के सदस्यों का होता था। यही कारण है कि नौकर का महत्व नौकर के स्वामी से बड़ा है। मध्ययुगीनता का सबसे बड़ा अभिशाप लोकतंत्र का दामन पकड़ कर लोकतंत्र के लिये भी सबसे आवश्यक अंग बन गया है। नौकरशाह जनता के प्रतिनिधियों को पंगु और जनता को असंतुष्ट बनाकर दोनों से अपनी झोलियां भरते हैं। वास्तविक लोकतंत्र में इनका काम उन दोनों को स्वस्थ वातावरण में एक दूसरे के निकट लाने का होना चाहिए।

हमने देखा कि मध्ययुग की बातें आज भी ज्यों की त्यों हमारे सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक जीवन में विद्यमान हैं। लोकतंत्र को स्वीकार करके भी हम उसे दिखावे की वस्तु मान रहे हैं। विश्व को दिखाने के लिये हम लोकतंत्र की लड़ाई लड़ते हैं, पर अपने प्रति उसी मध्ययुगीनता का दामन पकड़े हुए हैं जिसके अंश के बिना लोकतंत्र पनप नहीं सकता। मध्ययुगीनता का ही परिणाम लोकतंत्र में भी आपात्काल का आगमन था। यही मध्ययुगीनता दरबारियों में पारस्परिक संघर्ष और अन्तःपुर के कलह की तरह सत्तारूढ़ वर्ग के विनिपात का कारण बन रही है। भगवान की गीता को आचरण में लाने में तो हमारी रुचि नहीं रही, पर कृष्ण-जन्माष्टमी के जुलूस में भांगड़ा पार्टी और कौव्वालों का जमघट अवश्य होना चाहिए।

—दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-७

डा० देवराज

न्याय और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य

यह प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि समाज और राष्ट्र में न्याय (जस्टिस) की व्यवस्था होनी चाहिए। यहाँ हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि न्याय की अवस्थिति या व्यवस्था और स्वतंत्रता के प्रत्ययों में क्या संबंध है। किसी समाज में न्यायपूर्ण व्यवस्था हो, इसके लिये यह कहाँ तक आवश्यक है कि उस समाज या राष्ट्र के लोग स्वतंत्र हों? इस सन्दर्भ में यह भी विचार करना होगा कि स्वतंत्रता का वांछनीय रूप क्या है, या हो सकता है। इसी तरह हमें न्याय के निजी स्वरूप का भी स्पष्टीकरण करना होगा। इससे पूर्व कि हम न्याय और स्वतंत्रता के प्रत्ययों को परिभाषित करने और उनमें संबंध दिखाने का प्रयत्न करें, यह आवश्यक है कि हम उक्त तत्त्वों से संबंधित कतिपय ऐतिहासिक परिस्थितियों और उनसे उठने वाले कुछ प्रश्नों और समस्याओं से परिचित हों।

साधारणतः यह समझा जाता है कि न्याय का प्रत्यय विधि या कानून के प्रत्यय का अपेक्षी है। जब कोई व्यक्ति विधि-सम्मत व्यवस्था को भंग करता है तो देश के न्यायालय यह निश्चित करते हैं कि विधि-व्यवस्था के विरुद्ध जाने वाले व्यक्ति ने कैसे और कितना अपराध किया है, और उस अपराध के लिये उसे किस प्रकार का और कितना दण्ड मिलना चाहिए। न्यायालय की उक्त क्रियाओं को "न्याय करना" या "न्याय" कहा जाता है। न्याय-अन्याय की अवधारणा का दूसरा स्रोत समाज में प्रचलित प्रथाएँ और मान्यताएँ होती हैं। सरकार द्वारा बनाया हुआ विधान प्रायः असाधारण कोटि के या अपेक्षाकृत बड़े अपराधों को ध्यान में रखता है। उदाहरण के लिये यदि दो व्यक्तियों ने अपने बीच कोई ऐसा अनुबन्ध किया है जिसके भंग होने से एक या दूसरे की उल्लेखनीय क्षति होगी, तो विधान अपराधी व्यक्ति द्वारा क्षतिपूर्ति कराने का प्रयत्न करेगा—जैसे रुपये की उल्लेखनीय राशि का ऋण लेकर देने से इन्कार करने वाले व्यक्ति के विरुद्ध न्यायालय ऋणदाता को 'डिक्री' दे देता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति हम से दो-चार या दस-बीस रुपये लेकर देने से इन्कार करता है तो हम उसके विरुद्ध न्यायालय में नहीं जाते। उस व्यक्ति को जो थोड़ा बहुत दण्ड मिलता है, वह समाज से, जैसे—आस-पास के लोगों की भर्त्सना के रूप में। यह भर्त्सना या

निन्दा एक प्रकार का सामाजिक दण्ड और न्याय है।

विधान और समाज की दृष्टि से न्याय-अन्याय का स्वरूप प्रायः निश्चित होता है। प्रश्न है—फिर उक्त प्रत्ययों के बारे में विचार करना क्यों अपेक्षित है? इसका उत्तर कुछ इस प्रकार होगा : विभिन्न राष्ट्रों की सरकारें विधान (कानून) को जिन परिस्थितियों में बनाती और लागू करती हैं, उनमें भांति-भांति की भिन्नताएं रहती हैं। इससे यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि विभिन्न वैधानिक पद्धतियों के बीच सही-गलत अथवा उचित-अनुचित का निर्णय कैसे किया जाय? तात्पर्य यह है कि विचारक लोग किसी विधान या वैधानिक पद्धति के संबंध में यह उचित प्रश्न उठा सकते हैं कि वह स्वयं कहां तक उचित या अनुचित है? विभिन्न राष्ट्रों एवं सभ्यताओं के इतिहास में वैधानिक पद्धतियों का रूप परिवर्तित या संशोधित होता रहा है। यदि किसी पद्धति को हम ईश्वरीय विधान कह कर अन्तिम मान लें तो यह स्पष्ट है कि उसकी किसी प्रकार की आलोचना और उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन ग्राह्य नहीं होगा। किन्तु स्थिति यह है कि जिन विधानों का आधार तथाकथित ईश्वरीय ग्रन्थ कहे जाते थे, उनमें भी परिवर्तन हुए हैं। उदाहरणार्थ—कुरान के अनुसार चोरी करने वाले व्यक्ति के हाथ काट देने चाहिए। आज हम कहेंगे कि इस प्रकार का विधान बहुत कठोर है। आज के जन या न्यायाधीश यह देखने का प्रयत्न भी करेंगे कि अपराधी ने किन मनोवैज्ञानिक या आर्थिक स्थितियों में चोरी की। यदि कोई भूखा व्यक्ति किसी भोजनालय या दूकान से रोटी की चोरी करके भाग जाय और पकड़ा जाये तो संभवतः हम उसे गंभीर अपराधी घोषित नहीं करेंगे, इसी प्रकार आत्मरक्षा के लिये अथवा उत्तेजनावश की गयी हत्या तथा सुचिन्तित, योजनाबद्ध ढंग से की गयी हत्या में अन्तर होता है। पुरानी सभ्यताओं की वैधानिक व्यवस्थाओं में उक्त अन्तर प्रायः ध्यान में नहीं रखे जाते थे।

निष्कर्ष यह कि न्याय की समुचित धारणा बनाने के लिये विद्यमान वैधानिक व्यवस्थाओं पर पूर्णतः निर्भर नहीं रहा जा सकता। उन व्यवस्थाओं में संशोधन-परिवर्तन अपेक्षित हो सकते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि किसी वैधानिक व्यवस्था के मूल्यांकन के लिये हमें उस व्यवस्था के निरपेक्ष मापक (पैमाने) चाहिए। ये मापदण्ड कैसे प्राप्त होते हैं, यह एक बड़ा प्रश्न है। देखने की बात यह है कि किसी भी वैधानिक व्यवस्था में सुधार के लिये यह आवश्यक है कि हम न्याय के प्रत्यय पर विचार करते हुए उस व्यवस्था की परिधि से बाहर चले जायें। यही बात, और अधिक प्रबल रूप में, प्रचलित सामाजिक प्रथाओं और मान्यताओं पर लागू होती है। वास्तव में राज्य के विधानों की अपेक्षा समाज-विशेष की प्रथाएं और मान्यताएँ अधिक तेजी से बदलती हैं। हमारे देश में उदाहरण के लिये—मुसलमानों तथा अंग्रेजों के आने पर खान-पान, वस्त्र आदि में जितनी तेजी से परिवर्तन हुए, उतनी शीघ्रता से वैधानिक व्यवस्था में नहीं। किन्तु कभी-कभी विधान प्रगतिशीलता की ओर समाज से पहले बढ़ता है। सती-प्रथा तथा बालविवाह के विरुद्ध बनाये गये नये विधानों ने समाज के बदलने से पहले विधान को बदला, और इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन में योग दिया। वास्तव में समाज के परिवर्तन और विधान के संशोधन में संबंध होता ही है। इस स्थिति को इस प्रकार समझना चाहिए।

समाज एकरूप इकाई नहीं है। समाज के सदस्यों में जहाँ अधिकांश लोग अशिक्षित या अल्प-शिक्षित होते हैं, वहाँ थोड़े से सुशिक्षित एवं विचारशील लोग भी रहते हैं। प्रगतिशील विधानों की मांग प्रायः सुशिक्षित और विचारशील वर्ग से आती है। घोर परम्परावादी लोग प्रायः परिवर्तन के विरोधी होते हैं, वे बदलते हुए समय की आवश्यकताओं को नहीं समझते। इसके विपरीत नये विश्व से परिचित शिक्षित लोग समाज और विधि में परिवर्तन की मांग करते हैं।

मार्क्सवादियों ने इस बात पर बल दिया है कि समाज के अंतर्गत शोषकों तथा शोषितों के अलग वर्ग होते हैं, जिनके स्वार्थ एक-दूसरे से टकराते हैं। शोषक वर्ग धनी और समर्थ होता है, वह उत्पादन के साधनों पर ही नहीं, सरकार पर भी नियंत्रण रखता है। प्रत्येक सरकार वर्ग-विशेष के हित में नियम बनाती है। अतएव वर्गों में विभाजित समाज में विधान निष्पक्ष न्याय की संभावना को समाप्त कर देता है।

मार्क्सवादी मन्तव्य में निश्चय ही सच्चाई का कुछ अंश है। अधिकांश विधिक नियमों का संबंध सम्पत्ति के रक्षण, विनिमय आदि से होता है और उनका उद्देश्य सम्पत्ति के स्वामित्व की रक्षा करना और उसी के अनुरूप लेन-देन के नियम बनाना रहता है। किन्तु मार्क्सवादी विश्लेषण निरपवाद रूप में सही नहीं जान पड़ता। सम्पत्तिवालों के बीच भी भांति-भांति के झगड़ होते हैं जिन्हें विधान (कानून) निपटाता है। दूसरे, अनेक अपराध ऐसे भी होते हैं जिनका संपत्ति से सीधा संबंध नहीं होता, जैसे—ईर्ष्या या द्वेष के कारण की गयी हत्या, मत (वोट) पाने के लिये प्रतिद्वंद्वियों के विरुद्ध झूठे प्रचार तथा अन्य अवैध उपायों का अवलम्ब लेना, आदि। किन्तु यह सही है कि समृद्ध वर्गों अथवा ऊंची सामाजिक स्थिति वालों के प्रभाव में ऐसे नियम बन सकते हैं, जो निर्धन वर्गों अथवा दुर्बल जातियों के लिये हानिकर हों।

प्रश्न है, हम किस आधार पर किसी देश या समाज के प्रचलित विधानों की परीक्षा या समीक्षा एवं मूल्यांकन कर सकते हैं ?

ऐतिहासिक स्थिति यह रही है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रगति द्वारा या दूसरे कारणों से जब राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन होने लगते हैं तो प्रचलित विधानों के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि नयी आर्थिक तथा अन्य परिस्थितियों में विभिन्न सामाजिक वर्गों के अधिकारों, कर्तव्यों तथा अन्य संबंधों को लेकर नये विचार उठने लगते हैं। इन विचारों के दबाव से न्याय-अन्याय संबंधी मान्यताएँ भी बदलने लगती हैं, जिसके फलस्वरूप वैधानिक व्यवस्था में परिवर्तन की माँग होने लगती है। उदाहरणार्थ—प्राचीन यूनान में दास-प्रथा उचित समझी जाती थी; इस प्रथा के अन्तर्गत दास-दासियों पर स्वामियों का पूरा प्रभुत्व रहता था। मध्यकालीन भारतीय समाज में शूद्रों की स्थिति भी अच्छी नहीं थी। वैसे ही, पुराने दिनों में, स्त्री और सन्तान पर घर के स्वामी का प्रभुत्व रहता था। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति ने सब मनुष्यों की समानता का सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया, उसने मनुष्य की स्वतंत्रता की मान्यता पर भी बल दिया। उसके फलस्वरूप क्रमशः देशों में जनतंत्री सरकारें बनीं और धीरे-धीरे सब प्रकार के वयस्कों तथा स्त्रियों को भी मताधिकार मिला। 'मनुस्मृति' में एक ही अपराध के लिये ब्राह्मण को सबसे कम, क्षत्रिय को उससे अधिक, वैश्य को और अधिक तथा शूद्र को सबसे अधिक दण्ड देने का विधान है, इसके विपरीत जनतंत्र की यह प्रचलित मान्यता है कि विधि के आगे छोटे बड़े सब बराबर हैं।

जनतंत्र के राजनीतिक और वैधानिक समतावाद से आगे बढ़ कर समाजवादी तथा साम्यवादी विचारक यह मांग करते हैं कि सब मनुष्यों को आर्थिक दृष्टि से भी न्यूनाधिक समान होना चाहिए, क्योंकि आर्थिक स्वतंत्रता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता दूर तक निरर्थक है। निर्धन मनुष्य इस स्थिति में नहीं होता कि किसी दूसरी प्रकार की स्वतंत्रता का उपयोग करे। अतएव वैधानिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि समाज में आर्थिक विषमताएँ न रहें, या बहुत कम हों। यहाँ हम देख सकते हैं कि किसी विचारक या राष्ट्र के राजनीतिक, सामाजिक दर्शन और उसकी अभिमत वैधानिक व्यवस्था में आवश्यक संबंध होता है।

अब हम समता और स्वतंत्रता के प्रत्ययों पर दृष्टि डालें। फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति ने, जिसका बाद में अमेरिका के जनतंत्रीय संविधान पर प्रभाव पड़ा, समता, स्वतंत्रता एवं सर्वबन्धुता के नारों का उद्घोष किया था। यहाँ समता का विस्तार कहाँ तक समझा जाय ? यह सर्वविदित है कि मनुष्यों के बीच कुछ समानताओं के साथ अनेक विषमताएँ भी रहती हैं। रूप-रंग तथा स्वास्थ्य में, बुद्धि और चारित्रिक दृढ़ता में लोग समान नहीं होते। इन दृष्टियों से जहाँ विभिन्न देशों के निवासी भिन्नता रखते हैं, वहां एक देश, वर्ग और जाति के अन्तर्गत भी विभिन्नताएँ रहती हैं। जलवायु आदि के प्रभावों के कारण और स्वभाव-भेद के कारण भी, लोगों में परिश्रम करने तथा सहनशीलता की क्षमताएं कम या अधिक होती हैं। फलतः यह मन्तव्य उचित नहीं है कि हर व्यक्ति को आर्थिक तथा दूसरे क्षेत्रों में बराबर वेतन या पारितोषिक पाने का अधिकार है। हम एक बड़े, सूक्ष्मबुद्धि गणितशास्त्री या वैज्ञानिक और एक ऐसे व्यक्ति में, जिसमें गणित जैसे किसी कठिन विषय को समझने की योग्यता

ही नहीं है, भेद करने को बाध्य हैं। इतिहास साक्षी है कि विश्व में एक या दूसरे रूप में अधिक सक्षम लोग सामाजिक क्रम-कोटि में प्रायः ऊँचा स्थान पाते रहे हैं। यह ठीक है कि विशेष युगों में प्रतिष्ठा और सम्मान के अलग-अलग पैमाने प्रचलित रहे हैं। पुराने युगों में शारीरिक बल, कुल, धन आदि समय-समय पर मूल्यांकन के मानदण्ड रहे। जातियों में बंटे अपने देश में कुल या वर्ण आज भी महत्वपूर्ण बना हुआ है। प्राचीन युगों में देह-बल एवं युद्ध-कौशल का विशेष महत्व था तथा साहस, शौर्य आदि गुण प्रशस्य समझे जाते थे। वर्तमान युग में भौतिक विज्ञानों तथा अन्य शास्त्रों का भी महत्व बढ़ा है और शारीरिक बल का स्थान बहुत कुछ बुद्धिबल ने ले लिया है। आज युद्ध में विजय वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों की जानकारी और प्रयोग पर अधिक निर्भर रहती है, अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण उद्योगीकरण का अपेक्षी है। इस प्रकार बुद्धिबल तथा औद्योगिक प्रगति राष्ट्रीय महत्ता का प्रमुख आधार बन गये हैं। फलतः अब हम जाति, वर्ग या कुल को विशेष महत्व नहीं देते। मेधावी व्यक्ति किसी भी वर्ग या कुल का हो, राष्ट्र की प्रगति के लिये महत्वपूर्ण समझा जाता है। वास्तव में विज्ञान और प्रविधि का बोध और जानकारी बुद्धि-सापेक्ष है, जाति-सापेक्ष नहीं।

अब हम स्वतंत्रता की चर्चा करेंगे। जनतंत्र के इस युग में राजनीतिक स्वतंत्रता को विशेष महत्व दिया जाता है। किन्तु जैसा कि हमने संकेत किया, समाजवादी विचारकों ने आर्थिक समता और स्वतंत्रता का प्रश्न उठाया। निर्धन मनुष्य की स्वतंत्रता बड़ी सीमित होती है, आवश्यकता होने पर उसे उचित से कम मूल्य पर अपना श्रम बेचना पड़ता है। आर्थिक प्रलोभन देकर उसके मत (वोट) को खरीदा जा सकता है। शिक्षित न होने के कारण वह विभिन्न राजनीतिक दलों के गुण-दोषों को ठीक से समझने की स्थिति में नहीं होता, वह राजनीतिक दृष्टि से भी अपने और अपने देश के मित्र या शत्रु की पहचान नहीं कर पाता। वह जनतंत्र और अधिनायकवाद के बड़े अन्तर को समझने की स्थिति में नहीं होता। प्रकट है कि आवश्यक होते हुए भी मात्र मतदान की स्वतंत्रता जनता के सुखी और समृद्ध जीवन के लिये पर्याप्त नहीं है। ऐसे जीवन के लिये आर्थिक स्वतंत्रता और शिक्षा भी नितान्त आवश्यक है। अनियंत्रित राजा, सम्राट या डिक्टेटर के शासन के क्या दोष होते हैं, इसे ठीक से समझने के लिये कई देशों एवं राज्य-व्यवस्थाओं का बढ़िया परिचय आवश्यक हो सकता है। ऐसे परिचय के अभाव में कुछ लोग भाषण-पटु नेता के प्रभाव में आकर अधिनायकवाद या निरंकुशता के प्रशंसक बन सकते हैं। (यह आश्चर्य और कष्ट की बात है कि आपात स्थिति के कटु अनुभवों के उपरान्त हमारे देश के कुछ लोग आज भी भूतपूर्व प्रधानमंत्री की ओर आकृष्ट होते दिखायी पड़ रहे हैं।)

राजनीतिक स्वतंत्रता निश्चय ही महत्वपूर्ण है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह स्वतंत्रता पर्याप्त है। साथ ही, हमें जानना चाहिए कि सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य की स्वतंत्रता निरपेक्ष अथवा असीमित नहीं है। हमें स्वतंत्र होने का अधिकार वहीं तक है, जहाँ तक हमारी स्वतंत्रता किसी दूसरे व्यक्ति या वर्ग के लिये बाधा नहीं बनती। आज की सरकारें, प्रायः हर देश में, आर्थिक योजनाएं चला रही हैं : तथाकथित पूंजीवादी देशों में भी 'लैसे फेयर" (सरकार की अहस्तक्षेप-नीति, जिसके अनुसार उद्योगपतियों को आपसी प्रतियोगिता तथा श्रमिकों से पारिश्रमिक निश्चित करने की पूरी छूट थी) का सिद्धान्त अमान्य हो चुका है। तात्पर्य यह कि समाज के हित में व्यक्ति की और दुर्बल वर्गों के हित में समृद्ध वर्गों की स्वतंत्रता का परिसीमन आवश्यक माना जा सकता है।

अब तक विचारणा का निष्कर्ष इस प्रकार है : न्याय और अन्याय की धारणा के पीछे प्रायः किसी युग या राष्ट्र के कतिपय आधारभूत सिद्धान्त होते हैं। इधर के प्रगतिशील विचारकों ने हमें समता और स्वतंत्रता के आधारभूत भौतिक सिद्धान्त दिये हैं। ये सिद्धान्त आज हमारी न्याय-अन्याय की धारणा को प्रभावित कर रहे हैं। किन्तु हमारी सम्मति में उक्त दोनों सिद्धान्त उतने स्पष्ट एवं सुनिश्चित अर्थों के वाहक नहीं हैं जैसा कि कुछ लोग समझते हैं। समानता और स्वतंत्रता के नारों के उच्चारण मात्र से न्याय और अन्याय का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो जाता। कारण यह है कि समाज में न तो पूर्ण समानता संभव है और न अनियंत्रित स्वतंत्रता। मूलभूत प्रश्न

यह है कि एक आदर्श व्यवस्था में समानता और स्वतंत्रता का वितरण और परिसीमन किस आधार पर होना चाहिए ?

न्याय-अन्याय के मूलाधार का अन्वेषण

जहाँ स्थूल अपराधों के संबंध में न्याय-अन्याय का निर्णय अपेक्षाकृत सरल है, वहीं वैधानिक व्यवस्थाओं की समीक्षा और मूल्यांकन नितान्त जटिल कार्य है। वास्तव में वैधानिक व्यवस्था का अनिवार्य संबंध किसी राष्ट्र या युग के राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक विचारों से होता है। यहाँ धर्म के अन्तर्गत एक ओर नैतिक विचारों का, और दूसरी ओर मोक्ष एवं परलोक-चिन्ता से संबंधित मान्यताओं का समावेश समझना चाहिए। उदाहरणार्थ–पुनर्जन्म एवं कर्म-सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य अपने विगत जन्म के कर्मों के अनुरूप ऊंची या नीची जाति और धनी या निर्धन परिवार में पैदा होता है। स्पष्ट ही ये सिद्धान्त समतावाद के विरोधी हैं। सोचने पर जान पड़ेगा कि वे कतिपय सुधारों के और सब प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तनों के विरुद्ध भी हैं। इसी प्रकार जो लोग निश्चयात्मक रूप में यह मानते हैं कि संसार एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सबके हितैषी, परम कारुणिक भगवान की इच्छा से चलता है, वे किसी सुधारवादी या क्रान्तिकारी आन्दोलन में पूरे मन से भाग नहीं ले सकते।

सब प्रकार का मानववाद उपर्युक्त मान्यताओं को स्वीकार करना आवश्यक नहीं समझता। अपनी सब प्रकार की प्रगति के लिये मनुष्य को स्वयं अपनी विवेकबुद्धि, सत्संकल्प, प्रयत्न तथा परिश्रम पर निर्भर रहना चाहिए। इस दृष्टि से यह कहावत बड़ी सटीक है कि ईश्वर उन्हीं की सहायता करता है, जो स्वयं अपनी सहायता करते हैं। मानववाद यह भी मानता है कि मनुष्य के नैतिक तथा अन्य मूल्यों का स्रोत स्वयं उसका निरन्तर परिष्कृत होता हुआ अन्तःकरण अथवा अन्तरात्मा है। यहाँ इस परिष्कार की प्रक्रिया को विस्तार से समझने का अवकाश नहीं है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जैसे निरन्तर समृद्ध होती काव्य-सृष्टियों का अनुशीलन करते हुए हम श्रेष्ठ साहित्य के पैमानों को अधिकाधिक सूक्ष्मता से निरूपित करते चलते हैं, वैसा ही नैतिक मानदण्डों के संबंध में भी होता है। निःस्वार्थ, परोपकारी एवं समाजसेवी नैतिक-धार्मिक महापुरुषों के जीवन का समीक्षण करते हुए हम क्रमशः नैतिकता और धर्म के उच्चतर रूपों से परिचित होते हैं। कुछ सीमा तक धर्म और अधर्म को जानने में धर्म-ग्रन्थ भी सहायक होते हैं, किन्तु उपर्युक्त महापुरुष कभी-कभी धर्म-ग्रन्थों के अथवा उनकी कुछ शिक्षाओं के विरुद्ध विद्रोह भी करते हैं। हमारे देश में भगवान बुद्ध और महावीर ने–तथा सांख्य दर्शन ने भी–यज्ञ के नाम पर चलने वाले हिंसावाद का विरोध किया और कबीर ने वर्ण-वैषम्य और जातिवाद के विरोध में स्वर उठाया। इसी प्रकार कार्ल मार्क्स ने विचारशीलों का ध्यान आर्थिक स्वार्थों पर आधारित वर्ग-संघर्ष अथवा शोषण की स्थिति की ओर दिलाया। मार्क्स ने यह भी बताया कि शोषक वर्ग अपने रवैये के समर्थन के लिये धर्म की तथा अन्य श्रुतिप्रिय सिद्धान्तों की आड़ लेता है। कहा जाता है कि कुछ लोग यदि निर्धन हैं तो अपने पिछले कर्मों के कारण, अथवा ईश्वर की इच्छा से। इसी प्रकार अनुबन्ध की स्वतंत्रता के नाम पर श्रमिकों को कम पारिश्रमिक देने का समर्थन किया जाता है।

स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ क्या है ? कहा जाता है कि कार्य-कारण का सिद्धान्त मनुष्य की स्वतंत्रता का विरोधी है। यहाँ उक्त दार्शनिक विवाद में पड़ना हमें अभीष्ट नहीं है। यहाँ हम केवल इतना मानकर चलें कि मनुष्य में कम और अधिक उपयोगी या लाभ-हानि का अन्तर देखने की क्षमता प्रत्यक्ष सिद्ध है, वैसा देख कर उसके अनुरूप इष्टतर की प्राप्ति के लिये क्रियाशील होना ही कर्म-स्वातंत्र्य है। शिव-अशिव (अच्छाई-बुराई) के कुछ अन्तर सबकी बुद्धि में आते हैं, जैसे—हानि-लाभ के अन्तर। यह समझने के लिये कि निर्धन के बच्चे के लिये भी स्वास्थ्यकर भोजन और अच्छे वस्त्र वांछनीय हैं, किसी दार्शनिक के पास जाने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु परिस्थिति-विशेष में शिव-अशिव का निर्णय, सत्य-असत्य का निर्णय तथा काव्य और चित्तन की कृतियों के संबंध में ऊँच-नीच, घटिया-बढ़िया का क्रम-निर्णय लम्बे प्रशिक्षण एवं अध्ययन की अपेक्षा रखते हैं। यदि स्वतंत्रता का मूल तत्त्व दो या अधिक विकल्पों में से किसी का चयन कर सकना है, तो स्पष्ट है कि उसके उपभोग

के लिये दो बातें आवश्यक हैं । पहली बात विकल्पों की उपस्थिति है । यदि मेरे पास चार प्रकार के वस्त्र हैं तो मैं किसी विशेष अवसर पर एक या दूसरे को पहनने की स्वतंत्रता बरत सकता हूँ । किन्तु जिस निर्धन के पास एक ही वस्त्र है, जिस गृहिणी के घर में पकाने के लिये एक ही दाल या शाक है, और जिस बेकार श्रमिक के सामने काम करने के लिये एक ही फैक्ट्री और एक ही पारिश्रमिक की संभावना है, ये सब लोग वास्तव में स्वतंत्रता का उपभोग करने की स्थिति में नहीं हैं ।

मनुष्य स्वतंत्र और सर्जनशील प्राणी है । स्वतंत्रता का उपभोग करते हुए मनुष्य की चयन-क्रिया दूसरी समस्त स्वतंत्र क्रियाओं के साथ लगी रहती है । दर्शन में शताब्दियों से यह विवाद चला आ रहा है कि यदि प्रकृति-जगत् में कार्य-कारण का नियम व्याप्त है तो मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि हम भौतिक वस्तुओं के संचालक विधानों का पालन करते हुए ही उन वस्तुओं को इस प्रकार व्यवस्थित करते हैं कि वे हमारे प्रयोजनों की पूर्ति कर सकें । ये प्रयोजन उपयोगिता-परक भी होते हैं तथा सौन्दर्य-परक एवं नैतिक मूल्यों से संबद्ध भी । हम मूल रासायनिक तत्त्वों से अनेक प्रकार के रासायनिक यौगिक तैयार करते हैं जिनके तरह-तरह के उपयोग होते हैं, किन्तु हम मात्र सौन्दर्य-वृद्धि के लिये भी उपस्कर (फर्नीचर) एवं फूलों को नये रूपों में संजोते या व्यवस्थित करते हैं । इस प्रकार का संजोना हमारी परिष्कृत सौन्दर्य-भावना का अपेक्षी होता है । सौन्दर्य तथा नैतिकता की वृत्तियों को भौतिक गतियों से समीकृत नहीं किया जा सकता, इसीलिये उन्हें कार्य-कारण श्रृंखला के अंतर्गत रखना उचित नहीं जान पड़ता । वास्तव में उक्त वृत्तियों की गति आदर्शोन्मुख प्रेक्षण द्वारा निर्धारित या प्रभावित होती है ।

स्वतंत्रता के उपभोग के तीन मुख्य स्थल हैं । हमारे जीवन का पर्याप्त बड़ा भाग घर और परिवार से संबंधित होता है । खानपान, रहन-सहन आदि को लेकर घर के भीतर हम पर्याप्त स्वतंत्रता बरतते हैं । घर हमारी आदतों, आवश्यकताओं आदि के अनुरूप सुविधाएं देता है । यदि बाहर की शक्तियाँ हमारे घरेलू रहन-सहन में हस्तक्षेप करने लगें, तो जीवन बड़ा ही कष्टमय हो जायेगा । घर के सुख का संबंध जहाँ एक ओर अनाज, पानी, विद्युत् आदि की नियमित आपूर्ति से होता है, वहीं दूसरी ओर घर के सदस्यों के पारस्परिक सद्भाव एवं पारस्परिक विश्वसनीयता से भी । निरंकुश राज्यों में घरों के भीतर भी गुप्तचर घुसा दिये जाते हैं और पड़ोसी भी (जो घर से निकट संबंध रखते हैं) विश्वसनीय नहीं रह जाते । ऐसी स्थितियाँ पारिवारिक जीवन की स्वतंत्रता और सुख को नष्ट करने वाली हैं ।

हमारी सम्मति में सुखी जीवन के लिय यह आवश्यक है कि प्रत्येक परिवार की कुछ ऐसी निजी सम्पत्ति हो, जिससे उसे वंचित न किया जा सके । भविष्य की सुरक्षा के लिये कुछ निजी सम्पत्ति नितान्त आवश्यक है । कुछ सीमा तक यह भी आवश्यक है कि किसी व्यक्ति की परिश्रमशीलता और उसके द्वारा अर्जित सम्पत्ति में संबंध हो । इस दृष्टि से इस सिद्धान्त को स्वीकार किया जा सकता है कि "प्रत्येक को उसके परिश्रम के अनुसार" वेतन या पारिश्रमिक मिलना चाहिए । और यहाँ हम स्वतंत्रता के दूसरे क्षेत्र में प्रविष्ट होते हैं । इस क्षेत्र का संबंध व्यक्ति के उन कार्यकलापों से है, जिनके द्वारा वह जीविका अर्जित करता है । हमने ऊपर कहा था कि देहबल, बुद्धि-बल और चरित्र-बल (धैर्य, लगन आदि गुणों) में लोग असमान होते हैं । कुछ लोग दूसरों से कम परिश्रमशील और कम प्रतिभाशाली तथा कम सूझ-बूझ वाले होते हैं, दूसरे लोग अधिक उद्योगशील, व्युत्पन्नमति एवं साधन-युक्ति-सम्पन्न होते हैं । एक ही परिस्थिति में कुछ लोग काम बनाने की युक्ति निकाल लेते हैं, और कुछ नहीं निकाल पाते । एक समान शिक्षित लोगों के बीच कुछ स्त्री-पुरुष अच्छे चिन्तक, लेखक और वक्ता या आविष्कर्त्ता बन जाते हैं, और कुछ नहीं । क्रिकेट आदि के कुछ खिलाड़ी दूसरों से अधिक क्षमता-सम्पन्न सिद्ध होते हैं । किसी भी राज्य-व्यवस्था में इस प्रकार के भेदों का रहना अनिवार्य है । उक्त भेदों के आधार पर आर्थिक पुरस्कारों तथा सामाजिक सम्मान की व्यवस्था मानवीय संस्कृति और सभ्यता की प्रगति के लिये आवश्यक जान पड़ती है । यह उल्लेखनीय है कि साम्यवादी रूस में भी साधारण श्रमिकों की अपेक्षा उच्च कोटि का बौद्धिक काम करने वालों को अधिक

वेतन और सुविधाएं दी जाती हैं। किन्तु इस भेदपरक व्यवस्था के साथ यह भी आवश्यक है कि साधारण रूप में परिश्रमशील प्रत्येक नागरिक इतना पा सके कि उसके परिवार के सदस्यों को उचित मात्रा में स्वास्थ्यकर भोजन, सुधर आवास, वस्त्र तथा शिक्षा की सुविधाएं मिल सकें। ऐसी व्यवस्था को हम समाजवादी जनतंत्र कहेंगे। ऐसे जनतंत्र में शिक्षा, चिकित्सा, दैनिक यातायात की सुविधाएं जुटाना सरकार का कर्तव्य होगा। ऐसी सरकार ही सच्चे अर्थ में जनहितैषी सरकार और इस प्रकार शासित राज्य ही राम-राज्य कहलाने का अधिकारी हो सकता है। ऐसे राज्य की प्रतिष्ठा के लिये सरकार को व्यक्तियों और वर्गों की स्वतंत्रता का वहाँ और उस सीमा तक परिसीमन करना होगा, जहाँ वह स्वतंत्रता जन-कल्याण के मार्ग में बाधक बनती है। जन-कल्याणकारी राज्य की प्रतिष्ठा के लिये यह आवश्यक हो सकता है कि सरकार क्रमशः निजी उद्योगों के स्थान पर सार्वजनिक उद्योगों की स्थापना करे, लोगों से बच्चों की संख्या सीमित रखने की कहे और देश के बच्चों के लिये शिक्षा अनिवार्य कर दे। देश के प्रगतिशील विचारकों के प्रभाव में सरकार छुआछूत एवं जातिवाद की अभिव्यक्तियों पर भी प्रतिबन्ध लगा सकती है।

स्वतंत्रता का तीसरा महत्वपूर्ण क्षेत्र शास्त्रीय अन्वेषण एवं चिन्तन तथा साहित्य और कला का क्षेत्र है। पत्रकारिता भी इसी क्षेत्र के अन्तर्गत आती है। जनतंत्रीय राज्य में चिन्तन, लेखन, शास्त्रीय शोध और प्रकाशन (प्रेस) या समाचार-पत्र स्वतंत्र होते हैं। ये सब स्वतंत्रताएं उसी देश में संभव हैं, जहाँ सरकार एकदलीय नहीं होती, अर्थात् जहाँ एक से अधिक राजनीतिक दलों के लिये स्थान रहता है। जनतंत्री राज्य में न्यायालय स्वतंत्र होते हैं–इस अर्थ में कि उन पर, अर्थात् वैधानिक व्यवस्था पर, सरकार का नियंत्रण नहीं होता। जनतंत्री देश के न्यायालय बड़े से बड़े राज्य या केन्द्र के मंत्री को, जो विधि-विरोधी काम करता है, देश के विधानों के अन्तर्गत दण्ड दे सकते हैं। इन्दिरा गांधी की सरकार द्वारा बलात् आरोपित आपात्-स्थिति ने यह स्पष्ट कर दिया कि न्यायालयों तथा विरोधी दलों को दबा देने वाली सरकार कितनी भयानक हो सकती है।

इस निबन्ध में हमने "न्याय" के सैद्धान्तिक आधारों और उसके प्रमुख संस्थाबद्ध रूपों को निरूपित करने का प्रयत्न किया है। किसी भी आदर्श व्यवस्था में मनुष्य की सृजनशील वृत्तियों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। दूसरे शब्दों में, अच्छे राज्य के नागरिकों को निरन्तर विविध मूल्यों के अन्वेषण एवं सृष्टि में लगे रहना चाहिए। हर प्रकार की सृजनशीलता दो बातों पर निर्भर होती है–स्वतंत्रता और उपयुक्त प्रोत्साहन पर। स्वतंत्रता के अंतर्गत यह निहित है कि व्यक्तियों को भांति-भांति जीने की सामग्री, जिसमें सम्पत्ति का समावेश है, उपलब्ध हो। इस दृष्टि से निर्धनता नागरिकों के लिये एक बड़ा अभिशाप है। प्रोत्साहन के अन्तर्गत गुणात्मक विवेक और निष्पक्ष दृष्टि का विशेष स्थान और महत्व है। इन विचारों को समन्वित रूप में हम "सृजनात्मक मानववाद" और "गुणात्मक मानववाद" की आख्या या संज्ञा दे सकते हैं।

दर्शन विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय

अपना दण्ड

एक आतप भरी ग्रीष्म की रात, धवल चांदनी में राजमहल की छत पर एक दासी राजा-रानी के लिये पुष्प-शय्या सजा रही थी। चन्द्रकिरणों के क्षीरसागर में तैर रही सुरभित शय्या की कोमलता पर हाथ फिराते हुए दासी के मन में जिज्ञासा हुई—इस पर सोते हुए कैसा लगता होगा? एक इच्छा उसके हृदय में जागी। उसने इधर-उधर देखा। कोई नहीं था। सामने मूर्तिमान अलभ्य सुख। बस एक पल इसका अनुभव करके तुरन्त उठ जाऊँगी, सोचकर दासी शय्या पर लेट गयी। मादक सुगन्ध ने जैसे सुध-बुध ही हर ली। कितना कोमल स्पर्श! तारों भरा आकाश। छिटकती चन्द्रिका। मन्द-मन्द पवन की शीतल बयार। दिन भर की थकी दासी।

राजा-रानी शयन करने पधारे तो उनकी आँखें फटी रह गयीं। उनकी शय्या पर घनघोर निद्रा में दासी सो रही थी। दासी को जगाया गया। वह थर-थर कांप रही थी। रानी विशेष कुपित थी, अतः दण्डाधिकार भी राजा ने उसी को सौंप दिया। रानी ने अपराध के लिये साठ बेंतों का दण्ड निश्चित किया और स्वयं ही बेंत लेकर दासी को पीटने लगी।

तीस बेंतों तक दासी चीख-चीख कर रोती रही, पर उसके बाद सहसा ही उसने हँसना प्रारम्भ कर दिया और अन्त तक हँसती रही। आश्चर्यचकित राजा ने इस विचित्र व्यवहार का कारण दासी से पूछा तो वह बोली—प्रारम्भ में रोयी तो मैं पीड़ा के कारण थी, पर मार खाते-खाते मैंने सोचा कि इस शय्या में ऐसा क्या दोष है जिसके लिये मुझे इतना कठोर दण्ड भोगना पड़ रहा है? तब मेरे ध्यान में आया कि जिस वैभव के ऊपर यह शय्या सजी है, वह लाखों पीड़ितों के दमन पर स्थापित है। इस शय्या में ये पुष्प नहीं, ये तो दुखियों के आँसू हैं। अतः इन पर घड़ी भर लेटने का जो दण्ड मुझे मिला वह तो उचित ही है, पर जो इस पर जीवन भर सोते आ रहे हैं उनके लिये कितने दण्ड की व्यवस्था ईश्वर ने की होगी? मुझे दण्ड देने वालों को अपने दण्ड का तो पता ही नहीं है। इसी विचार से मुझे हँसी आने लगी। यह सुनकर राजा के आगे जैसे अंधेरा छा गया। लम्बे सोच के बाद निःश्वास छोड़कर उसने कहा—सचमुच, हम दूसरों को तो दण्ड देते आ रहे हैं और अपने दण्ड का पता ही नहीं है। इसी के साथ एक दृढ़ निश्चय मन ही मन राजा ने किया। उसने एक पुराना कम्बल मँगाया और उसे नीचे बिछाकर उस पर सो गया।

□

डा० राधावल्लभ त्रिपाठी

प्राचीन भारतीय कलाचिन्तन के कतिपय पक्ष

भारत के प्राचीन कलाचिन्तन को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिये यहाँ कलाओं के परस्पर संबंध तथा संपर्क की सुदीर्घ और सम्पन्न परम्परा पर दृष्टिपात करना समीचीन होगा। किसी कलाविशेष में इतर कलाओं के सम्मिश्रण अथवा अन्तरावलम्बन की जटिल और संश्लिष्ट प्रक्रिया भारतीय कलाओं के संदर्भ में प्रायः देखी जा सकती है। शालभंजिका, पूर्णघट, मंगलकलश, तोरण, प्रसाधन, पत्रभंग, पत्रलेखन, नखक्षत आदि के अनेक अभिप्राय, सांकेतिक दृश्यालेख या मुद्राएं चित्र, मूर्ति, वास्तु तथा साहित्य में समान रूप से स्वीकृत किये गये।[1] व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ आदि कृती रचनाकारों के काव्य से गृहीत होकर अनेक संदर्भ विभिन्न ललित कलाओं में प्रयुक्त हुए, वहीं शब्दशिल्पी रचनाकारों ने भी अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन कला तथा शिल्प से बहुत कुछ ग्रहण किया। संस्कृत का कवि शिल्पकलाओं की एक समृद्ध परम्परा, उनकी उपादान-सामग्री तथा रचना से इतना अधिक परिचित और उनका अभ्यस्त है कि उसका काव्यसंसार निश्चित रूप से इनके द्वारा अत्यधिक प्रभावित हुआ है। रामायणकाल तक नाट्य, वास्तु तथा मूर्ति आदि कलाओं का पर्याप्त विकास हो चुका था। संस्कृत के प्रथम समर्थ नाटककार भास की सर्वोत्तम कृति 'स्वप्नवासवदत्तम्' की रचनाप्रक्रिया और कथा-संघटना में एक चित्रफलक अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। मृत समझ ली गयी रानी वासवदत्ता की पहचान उसके विवाह के समय निर्मित चित्र से होती है, जिसे देख कर रानी पद्मावती आवन्तिका (छद्मवेषधारिणी वासवदत्ता) से उसका अत्यन्त सादृश्य पाकर विस्मयविमूढ़ बन जाती है। कालिदास के समस्त काव्य ललित कलाओं के संदर्भों से भरे पड़े हैं। यही नहीं, विश्वकवि के कुछ सर्वोत्तम और हृदयस्पर्शी काव्यांशों द्वारा नाटयप्रसंगों की सृष्टि ललित कला–विशेषतः चित्रकला के संश्लेष के द्वारा हुई। शाकुन्तल में जहाँ भ्रमरबाधाग्रस्त शकुन्तला के अधूरे चित्र को पूरा करने की दुष्यन्त की इच्छा में उसके अनुताप-दग्ध हृदय की कचोट को गहन व्यंजनापूर्ण अभिव्यक्ति कवि ने दी है, वहाँ मेघदूत में यक्ष के द्वारा चित्र में भी समागम न सह पाने वाले विधाता को उपालम्भ दिला कर नियति के दारुणविधान और मनुष्य की विवशता का करुण चित्र अंकित कर दिया है।

कालिदास किस प्रकार विभिन्न कलाओं के संश्लेष से अपने काव्य को निखार देते हैं, इसका उदाहरण नृत्य करती मालविका के वर्णन में मिलता है :

> अंगैरस्तनिहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
> पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
> शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
> भावो भावं नुदति विषयाद् रागबन्धः स एव ॥

शब्द जिसमें छिपे हुए थे—ऐसी अंगरचना के द्वारा मालविका ने अपने नाट्य का अभिप्राय सूचित किया था, उसका चरणन्यास लयबद्ध था, रस में वह तन्मय हो गयी थी । अभिनय शाखायोनि और मृदु था, विविध देह-भंगिमाओं की अनुवृत्ति के द्वारा एक भाव से दूसरे भाव की शृंखलाएं प्रस्तुत करके उसने सचमुच रागबंध रच डाला था । नृत्य समाप्त कर वापस जाते समय नाट्याचार्य के कहने से ठिठक गयी मालविका के शब्दचित्र में हम चित्रकला के काव्यमय उपयोग का एक सुन्दर नमूना देख सकते हैं :

> वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
> कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम् ।
> पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमं कुट्टिमे पातिताक्षं
> नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम् ॥

मालविका ने अपना बायाँ हाथ, जिसका वलय कोहनी के जोड़ पर निश्चल रुका हुआ था, अपने नितंब पर रख लिया था, दूसरा हाथ श्यामा लता की लचीली शाखा की तरह उसने ढीला छोड़ रखा था । उसकी आंखें पैर के अंगूठे से रौंदे जाते फूलों वाले फर्श पर टिकी हुई थीं । देह का निचला आधा भाग सीधा और दीर्घ था । उसका इस तरह ठिठका रह जाना नृत्य करने से भी भला लगता था ।

इस स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि संगीत, नाट्य, प्रतिमा, वास्तु, काव्यशास्त्र आदि के शास्त्रों के आचार्यों की दृष्टि उन सिद्धान्तों पर जाती, जो इन कलाओं पर समान रूप से लागू होते हैं । इन आचार्यों ने किसी विशिष्ट कला की रचनाप्रक्रिया तथा उसके आस्वाद के स्पष्टीकरण के लिये जहाँ इतर कलाओं के दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं, वहीं विभिन्न कलाओं में अनुस्यूत साधारण धर्मों का भी अन्वेषण किया है । अलग-अलग कलाओं के द्वारा भावक पर पड़ने वाले प्रभावों में किसी न किसी स्तर पर एकरूपता रहती है—इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य शंकुक ने कहा है कि नाटक के अवलोकन के समय नट में रामादि की प्रतीति चित्रतुरगन्याय से होती है । चित्र में बना अश्व न तो सचमुच का अश्व कहा जा सकता है, और न उसके लिये यह ही कहा जा सकता है कि वह अश्व नहीं है । फिर भी उससे अश्व की प्रतीति होती है । यह प्रतीति संसार में स्थूल पदार्थों के प्रत्यक्ष से होने वाली सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य—इन चारों प्रकार की प्रतीतियों से भिन्न है । चित्र में बने अश्व का बोध जिस प्रकार भौतिक जगत् में अश्व या अन्य किसी पदार्थ को देख कर होने वाले बोध से भिन्न है, उसी प्रकार मंच पर अभिनय करने वाले अभिनेता में राम, दुष्यन्त आदि का बोध भी उपर्युक्त चारों भौतिक प्रतीतियों से परे है । यही नहीं, अभिनेता के विभिन्न हाव-भाव चित्र में किस प्रकार झलकते हैं, और वह मात्र रंगों और रेखाओं से निर्मित जड़ आकार नहीं रह जाता—इस बात को विष्णुधर्मोत्तरपुराण में चित्रसूत्रप्रकरण में सुन्दर ढंग से समझाया गया है :

> लसतीव च भूलम्भो श्लिष्यतीव तथा नृपः ।
> हसतीव च माधुर्यं सजीव इव दृश्यते ॥
> सश्वास इव यच्चित्रं तच्चित्रं शुभलक्षणम् ॥
> वि० ध० ४३।२१-२२

अपने प्रभाव की परिणति में चित्र माधुर्य में विकसित होता हुआ, सजीव सा, सांस लेता हुआ सा लगने लगता है । चित्र के भाव को काव्य, नाटक आदि के समान भावित करने की प्रक्रिया का संकेत भास भी कर चुके थे । उनके दूतवाक्य नाटक में चित्रफलक को देखता हुआ दुर्योधन प्रशंसा के भाव से कहता है : "अहो अस्य वर्णाढ्यता । अहो भावोपपन्नता । अहो युक्तलेखता । सुव्यक्तमाविखितोऽयं पटः ।"

इस प्रकार विभिन्न कलाओं के प्रभाव में अन्विति की खोजी ही गयी, कला-विशेष के उपादान, रचनाप्रक्रिया

रचना के प्रयोजन, स्वरूप आदि को भी इतर कलाओं के संदर्भ में परिभाषित करने का प्रयास किया गया। संस्कृत काव्यशास्त्र के सुप्रसिद्ध अलंकारवादी आचार्य वामन ने काव्य में रीति का स्थान स्पष्ट करने के लिये चित्रकला का दृष्टान्त दिया है :

> आसु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति ।

(इन तीनों रीतियों में काव्य उसी प्रकार प्रतिष्ठित है, जिस प्रकार रेखाओं में चित्र ।)

चित्र, मूर्ति, काव्य आदि विभिन्न कलाओं की पारस्परिक श्रेणतः एकरूपता को दृष्टि में रख कर ही कुन्तक ने कहा कि काव्य, काव्य के उपकरण तथा कवि का साम्य चित्र, चित्र के उपकरण तथा चित्रकार के साथ इसीलिये प्रतिपादित किया जाता है :

> तस्मादेव च तथाविधस्वरूपोल्लेखप्राधान्येन काव्य-काव्योपकरण-कवीनां चित्र-चित्रोपकरण-चित्रकारैः सनम्यं प्रथमभेव प्रतिपादितम् ।
> (वक्रोक्तिजीवित, ३।१० की वृत्ति)

भारतीय कलाचिन्तन के उपर्युक्त वैशिष्ट्य को दृष्टि में रख कर आनंदकुमारस्वामी ने यह धारणा प्रकट की है कि 'अलंकारशास्त्र में अलंकारसिद्धान्त मुख्यतः नाटक, नृत्य और संगीत के प्रसंग में निरूपित होते हुए भी समस्त कलाओं के लिये उपयुक्त सिद्ध हुआ है, क्योंकि इसकी पारिभाषिक शब्दावली का अधिकांश रंगविषयक अवधारणाओं से युक्त है और इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि अलंकारसिद्धान्त वस्तुतः चित्रकला पर ही लागू होता है।'[२]

कुमारस्वामी की यह धारणा सही है, पर उसमें संशोधन अपेक्षित है। अलंकारसिद्धान्त हमारे कलाचिंतन में सर्वप्रमुख रूप से काव्य के प्रसंग में निरूपित हुआ है, परन्तु काव्य और नाटक में हमारी परंपरा में मूलतः पार्थक्य नहीं माना गया। नाट्यशास्त्र के आद्य आचार्य भरत के संबंध में यह प्रचलित धारणा रही है कि उन्होंने अपने सिद्धान्त मूलतः नाटक के संदर्भ में ही निरूपित किये थे, काव्य के क्षेत्र में उनका उपयोग बहुत बाद में जाकर किया गया। पर ऐसा मानना उचित प्रतीत नहीं होता। भरत के समय तक काव्य की दृश्य तथा श्रव्य–ये दो विधाएं एक-दूसरे में संश्लिष्ट थीं। वैसे भी काव्य तथा नाटक के पार्थक्य की धारणा हमारी परंपरा में मूलतः नहीं रही है। और, काव्य किसी व्यक्ति के द्वारा (आरण्यकों की तरह) एकान्त में बैठ कर पढ़ने के लिये भी हो सकता है—ऐसा मानना भरत के समय तक तो अकल्पनीय ही रहा होगा। काव्य मुख्यतः समूह के समक्ष प्रस्तुत किये जाने के लिये था, चाहे वह स्वयं कवि, कुशीलवों, अथवा सूत या पौराणिकों के द्वारा गा-गा कर या पढ़ कर प्रस्तुत किया जाय, या नटमण्डली के द्वारा रंगपीठ पर खेल कर। अभिनव गुप्त ने भरत के रसविवेचन की व्याख्या में स्पष्ट ही कहा है कि "काव्य और नाट्य पर्याय हैं। काव्य मुख्यतः दशरूपात्मक ही होता है। इस दशरूपात्मक काव्य को (कवि, सूत, कुशीलव, चारण आदि के मुख से) सुनने पर भी नाट्यलक्षण रस स्फुरित होता ही है। काव्य को मंच पर अभिनय आदि के साथ प्रस्तुत कर के दिखाये जाने की व्यवस्था उन्हीं के लिये है, जिनका हृदय इतना निर्मल नहीं है कि काव्य के श्रवण से ही आस्वाद कर सकें।"[३] आगे अभिनव ने कहा है–"काव्यश्रवण के समय रसप्रतीति में कुछ विघ्न आते हैं, सहृदय व्यक्ति की रसिकता के कारण ये विघ्न उसके आगे टिक नहीं पाते, अतः वह काव्यश्रवण से भी रसास्वाद प्राप्त कर लेता है। जो लोग इतने सहृदय नहीं हैं, उनके लिये ये विघ्न रंग-मंच पर विभावादि सामग्री को उपस्थित करने से दूर होते हैं।"[४] भरत ने काव्य तथा नाट्य को पर्याप्त मानते हुए नाटक के पाठ्य अंश–संवाद आदि–के लिये "काव्य" शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर किया है।[५] इस दृष्टि से उनके अनुसार काव्य तथा नाटक एक ही वस्तु है। भरत ने रसविवेचन की जो परंपरा प्रारंभ की, उसमें रस की उपस्थिति काव्य तथा नाट्य दोनों में समानतया स्वीकार की गयी, न कि केवल नाट्य में। आनन्दवर्धन ने इस परंपरा की ओर इंगित करते हुए स्पष्ट कहा है :

> एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेव ।
> रसादयो हि द्वयोरपि तयोः (काव्यनाट्ययोः) जीवभूताः ।
> (—ध्वन्यालोक, काव्यमाला सं०, पृ० २२६)

काव्य का मंच पर प्रस्तुत रूप नाट्य है, तथा पाठ्यांश की दृष्टि से भारतीय मत में काव्य तथा नाट्य एक ही वस्तु के नाम हैं। पाठ्य अंश जब संवादों के रूप में नाट्य में न हो, तो उसी के नृत्त तथा नृत्य—ये दो रूप बनते हैं—केवल ताल और लय पर आधारित आंगिक संचरण में प्रथम (नृत्त) तथा ताल और लय के साथ भावाभिव्यक्ति का प्राधान्य होने पर द्वितीय (नृत्य)। इस प्रकार भारतीय (भरत की) दृष्टि से काव्य, नाट्य, नृत्त तथा नृत्य—इन चार कलाओं की एकसूत्रबद्धता स्पष्ट हो जाती है। नाट्य तथा नृत्य के साथ प्रस्तुत पाठ्य या गेय अंश काव्य है। काव्य तथा गीत की सीमाएं भी एक दूसरे को स्पर्श करती हैं। नाट्यशास्त्र ४।२६६–६८ की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने प्रतिपादित किया है कि संगीत तथा कविता—ये दोनों जहाँ मिल जाते हैं, वहां राग-काव्य नामक विधा की सृष्टि होती है। राघवविजय, मारीचवध आदि प्राचीन रागकाव्यों के उदाहरण भी अभिनवगुप्त ने दिये हैं।[९] (संस्कृत में रागकाव्य का सर्वोत्कृष्ट उपलब्ध उदाहरण जयदेव का गीतगोविन्द कहा जा सकता है।) अभिनव ने रागकाव्य के अतिरिक्त गीतकाव्य नामक प्रकार का भी उल्लेख किया है—गीयत इति गीतं काव्यम् (ना० शा० ४।२७२ पर अभिनवभारती)। कलाओं की इस पारस्परिक अन्विति को देखते हुए ही विष्णुधर्मोत्तरपुराण में कहा गया है—"जो चित्रविद्या के नियमों को भलीभांति नहीं समझता, वह मूर्तिकला के नियमों को नहीं समझ सकता। नृत्यविद्या के ज्ञान के बिना चित्रकला के नियमों को समझ पाना कठिन है, क्योंकि इन दोनों ही कलाओं में जगत् का अनुकरण रहता है। जो व्यक्ति वाद्य संगीत से अपरिचित है, उसके लिये नृत्यविद्या का ज्ञान भी कठिन है, क्योंकि वाद्य संगीत के ज्ञान के बिना किसी भी प्रकार से नृत्य-शास्त्र में प्रवीण हो पाना संभव नहीं है। वाद्य संगीत गीतविद्या के बिना संभव नहीं है और गीतशास्त्र के मर्मज्ञ को समस्त कलाओं का ज्ञान होना ही चाहिए। यह गीत भी पाठ्य (काव्य) पर आधारित होता है।"[१०]

इस प्रकार जहाँ एक ओर प्राचीन आचार्यों ने कलासमीक्षा की दृष्टि से एक कला के सम्यक् अवबोध के लिये इतर कलाओं का ज्ञान आवश्यक माना, वहीं रचनाप्रक्रिया तथा उपादान सामग्री की दृष्टि से कलाओं के पारस्परिक संपर्क तथा संश्लेष को भी स्वीकार किया। नाटक की प्रस्तुति में सारी कलाओं का विनियोग हो सकता है, इस तथ्य को सर्वप्रथम आचार्य भरत ने ही रेखांकित किया। नाट्य का महात्म्य बताते हुए उन्होंने कहा :

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं, न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो, न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

भरत का यह विवेचन आज की 'टोटल थियेटर' संबंधी अवधारणा से भी कुछ आगे ही है, क्योंकि यह अधिक विस्तृत और सुसंबद्ध है।

भरत के परवर्ती शास्त्रीय चिन्तन में भी कलाओं के अन्तःसंबलम्बन की पड़ताल चलती रही। काव्य के साथ अन्य कलाओं का तारतम्य भी खोजा गया। इस दृष्टि से आचार्य भामह ने कहा :

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान् कवेः॥

कलाओं की मूलभूत समानताओं को दिखाने के लिये भारतीय चिन्तकों ने उनकी उपादानसामग्री, रचनाप्रक्रिया तथा संविधान आदि में एकता भी सिद्ध की। भरत ने नाट्य के संदर्भ में करण, अंगहार, मुद्रा, हस्त आदि का विवेचन किया था। बाद के कलाचिंतकों ने सिद्ध किया कि इतर कलाओं के लिये भी ये तत्त्व अपना महत्व रखते हैं। विष्णुधर्मोत्तरपुराण ने प्राचीन भारतीय कला-चिंतन पर विस्तार से प्रकाश डाला है। इसके अनुसार नृत्त आदि के संदर्भ में निरूपित दृष्टियाँ, भाव, हस्त आदि चित्रकला में भी विनियुक्त होते हैं :

यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता
दृष्टयश्च तथा भावा अंगोपांगानि सर्वशः॥
कराश्च ये समया नृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम।
त एव चित्रे विज्ञेया नृत्तं चित्रं परं मतम्॥
—वि० ध० ३।३५।६–९

गुण-दोष तथा रस का निरूपण मूलतः नाट्य अथवा काव्य के प्रसंग में किया जाता रहा है। पर भारतीय

। नाटक की प्रस्तुति
सकता है, इस तथ्य
ी रेखांकित किया ।
ने कहा :

विद्या न सा कला ।
स्मिन् यन्न दृश्यते ।।

टल थियेटर' संबंधी
क्योंकि यह अधिक

भी कलाओं के अन्त-
काव्य के साथ अन्य
या। इस दृष्टि से

द्या न सा कला ।
ो महान् कवेः ।।

ो दिखाने के लिये
सधी, रचनाप्रक्रिया
ाढ की। भरत ने
श, हस्त आदि का
कों ने सिद्ध किया
अपना महत्व रखते
भारतीय कला-
। इसके अनुसार
टर्या, भाव, हस्त
हैं :

तिः समृता
ने सर्वशः ।।
सत्तम ।
रं मतम् ।।
ध० ३।३५।६–९

तः नाट्य अथवा
। पर भारतीय

चिंतकों ने उन्हीं गुणों, दोषों तथा रसों की परिव्याप्ति चित्रकला, संगीत आदि में भी प्रदर्शित की।[६] अलंकार की धारणा तो इतनी व्यापक है ही कि समस्त कलाओं में स्वतः सिद्ध है। भामह, दण्डी, वामन, कुंतक आदि अलंकारवादी आचार्यों के अनुसार अलंकार काव्य अथवा कला का अविभाज्य संश्लिष्ट तत्त्व है।

संगीत में स्वर के अन्तर्गत श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना, स्थान, साधारण, जाति, वर्ण, अलंकार, आदि का समावेश किया गया तथा सप्त स्वरों में से प्रत्येक की रसव्यंजकता की कोटियाँ निर्धारित करते हुए भरत ने कहा :

मध्यमपंचमभूयिष्ठं हास्यशृंगारयोर्भवेत् ।
षड्जर्षभप्रायकृतं वीररौद्राद्भुतेषु च ।।
गान्धारसप्तमप्रायं करुणे गानमिष्यते ।
तथा धैवतभूयिष्ठं बीभत्से च भयानके ।।
(ना० शा०, २९।१२, १३)

आगे चल कर स्वरों की रसव्यंजकता का निर्धारण संगीत-रत्नाकर आदि ग्रंथों में विस्तार से किया जाता रहा। गुण-दोष का विधान भी संगीतशास्त्र में काव्य तथा चित्रकला के समान ही किया गया। नारदीय शिक्षा में संगीत के दस गुण तथा चौदह दोष बताये गये हैं।

कलाओं के आस्वाद अथवा भावक के चित्त पर पड़ने वाले प्रभाव में भी इसी प्रकार अन्विति खोजी गयी। किसी भी उत्तम कलाकृति का प्रथम प्रभाव सहृदय व्यक्ति को कौतूहल या विस्मय से अभिभूत कर देता है। किसी अत्यन्त मनोहर चित्र, प्रतिमा या वास्तुरचना को देख कर सहसा मुख से 'अहो' या 'साधु, साधु' की ध्वनि निकल पड़ती है। भास, कालिदास, हर्ष आदि के नाटकों में अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं, जहाँ चित्र के प्रथम अवलोकन अथवा सुन्दर गीत के श्रवण से दर्शक या श्रोता इसी प्रकार अभिभूत होते दिखायी पड़ते हैं। अतः कहा जा सकता है कि सुन्दर कलाकृति या रचना का प्रथम प्रभाव विस्मयमूलक होता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के पितामह नारायण ने विस्मय स्थायी-भाव वाले अद्भुत रस को काव्य का मूल रस इसी दृष्टि से कहा था। कला के प्रभाव में विस्मय की उपस्थिति काव्य के सन्दर्भ में ही नहीं, इतर कलाओं के सन्दर्भ में भी निरूपति की गयी। अभिलषितार्थचिन्तामणि में भावचित्र (चित्र के एक विशेष प्रकार) को कौतुक उत्पन्न करने वाला कहा गया :

शृंगारादिरसो यत्र दर्शनादेव गम्यते ।
भावचित्रं तदाख्यातं चित्रकौतुककारकम् ।।
अ० चिं० ३।१।९४१

परन्तु कौतुक या विस्मय उत्पन्न करने भर में कला के प्रभाव की परिणति नहीं मानी जा सकती। कौतुक और विस्मय की यह स्थिति निश्चय ही बहुत टिकने वाली नहीं होती। अच्छी कलाकृति हमें इससे आगे ले जाकर हमारी करुणा या संवेदना को उद्बुद्ध करती है तथा हमें विश्वजनीन मनुष्यता से जोड़ती है। भवभूति ने इस दृष्टि से करुणा को ही एकमात्र रस अथवा मूल रस कहा था, अन्य समस्त रस, भाव आदि इसी मानवीय करुणा के ही प्रतिरूप हैं। अभिनव ने शान्त रस को महारस की संज्ञा देते हुए प्रतिपादित किया कि समस्त रसों का परिहार शान्त में होता है। उपर्युक्त विवेचन से हम कला के भावक पर प्रभाव की तीन अवस्थाओं की कल्पना कर सकते हैं। प्रथम में उसका चित्त कौतुक या विस्मय से आविष्ट हो उठता है। कलाकृति के सौन्दर्य और वैशिष्ट्य को सराह पाने की यह प्राथमिक अवस्था है। उसके बाद वह कलाकृति के अन्तरतम तक पहुँचता है, वह उसमें निहित विश्वजनीन मनुष्यता से अपने को जुड़ा हुआ पाता है। यह अवस्था भावक के चित्त को विचलित अथवा करुणा से आप्लावित कर देती है। परन्तु भारतीय विचारकों की दृष्टि में चित्त को क्षुब्ध करना मात्र कला का उद्देश्य नहीं हो सकता। कला के प्रभाव की चरम परिणति उनके अनुसार प्रशम या निर्वेद में है। अभिनवगुप्त के शान्त रससिद्धान्त के पीछे यही दृष्टिकोण है।

इस प्रकार भारतीय चिन्तन जहाँ कला के प्रभाव, उपादान, प्रयोजन आदि की दृष्टि से विभिन्न कलाओं में अन्तःसंबंध की गवेषणा करता है, वहीं कला की रचनाप्रक्रिया की दृष्टि से भी उन मूलभूत प्रवृत्तियों पर विचार किया

गया, जिनसे कला की सर्जना होती है। भोज ने अपने शृंगारप्रकाश तथा सरस्वतीकण्ठाभरण में कलासर्जना की मूलभूत प्रवृत्ति को शृंगार नाम दिया और सांख्य आदि दर्शनों के सृष्टि के सिद्धान्त के आधार पर अपने इस 'शृंगार' को परिभाषित किया—'रसोऽभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते' (शृंगार=अभिमान या अहंकार, जो मनुष्य के व्यक्तित्व में निहित, समस्त कार्यों का मूल प्रेरक है)। एक मूलभूत प्रवृत्ति के रूप में शृंगार को व्यापक धरातल पर परिभाषित करते हुए भोज ने कला-सर्जना की प्रक्रिया का भौतिक जगत् के कार्यकलापों के साथ तारतमिक संबंध ही स्थापित नहीं किया, उन्होंने उस प्रक्रिया के पीछे निहित मनोविज्ञान की ओर भी इंगित किया।

कलाकार की अभिव्यक्ति की शक्ति कला है।[३] काव्य की भी एक सुप्रसिद्ध परिभाषा आनन्दवर्धन, अभिनव, मम्मट आदि आचार्यों ने यही दी है कि कवि का कर्म या उसकी अभिव्यक्ति काव्य है। इस प्रकार कला की रचनाप्रक्रिया को रचनाकार के सामर्थ्य या उसकी प्रतिभा से जोड़ कर प्राचीन भारतीय चिंतकों ने उन अवस्थाओं का अन्वेषण किया, जिनसे होकर रचनाकार की प्रतिभा रचना के समय गमन कर सकती है। उनके अनुसार ये अवस्थाएं प्रधानतः तीन हो सकती हैं :—अनुसंधान, अनुकरण तथा अन्यथाकरण।

अनुसंधान व्यापार का सर्वप्रथम उल्लेख भट्टलोल्लट ने नाट्य के संदर्भ में किया था। लोल्लट की व्याख्या में अनुसंधान के दो पक्ष उभरते हैं। तदनुसार स्थायी भाव मुख्य वृत्ति से तो राम आदि अनुकार्य (मूल ऐतिहासिक पात्र) में ही रहता है, पर अनुसंधान के कारण नट में भी उसकी प्रतीति होती है। यहाँ अनुसंधान व्यापार की व्याप्ति नट (कलाकार) तथा प्रेक्षक (भावक, पाठक, श्रोता)—इन दोनों में देखी जा सकती है। अभिनव-गुप्त के अनुसार एकीभाव होना अनुसंधान है। नट राम, दुष्यन्त आदि मूल पात्रों के साथ एकत्व प्रदर्शित करता है, यह उसकी दृष्टि से अनुसंधान है। प्रेक्षक नट को रामादि का अभिनय करते देखता है और उसमें अपने संस्कार से राम आदि की प्रतीति का अनुभव करता है—यह प्रेक्षक की दृष्टि से अनुसंधान है। लोल्लट की व्याख्या पर आक्षेप करते हुए प्रायः यह कहा जाता है कि वह अनुसंधान —अर्थात् भ्रममूलक आरोप—के द्वारा नट में राम आदि की प्रतीति (काव्य, नाट्य से होने वाले अनुभव) की व्याख्या करता है और यह असंगत है। परन्तु लोल्लट में अनुसंधान का अर्थ विशुद्ध आरोप नहीं हो सकता। मम्मट ने अनुसंधान को समझाने के लिये उसे तादृप्य अथवा तद्रूपता का अनुसंधान कहा है, जो आरोप से भिन्न है। किसी के साथ तद्रूप (आइडेंटिकल) होना मात्र उसे अपने पर आरोपित करना नहीं हो सकता। यदि अनुसंधान के मूल अर्थ को ध्यान में रखते हुए रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया के सन्दर्भ में उसे समझा जाय तो यही प्रतीत होगा कि नट द्वारा प्रेक्षक या सामाजिक के समक्ष राम आदि अनुकार्य की प्रतीति उत्पन्न करने के लिये किया गया व्यापार तथा सामाजिक के भीतर उसे देखकर उसमें राम आदि का व्यक्तित्व अनुभव करने का व्यापार—ये दोनों अनुसंधान के भीतर आ जाते हैं। नट अपनी अभिनयकुशलता, शिक्षा और अभ्यास आदि के कारण राम आदि का अनुसंधान करता है, तो सामाजिक अपनी सहृदयता के कारण। यह अनुसंधान काव्य तथा नाट्य की अनुभूतियों का मूल आधार है। लोल्लट के अनुसंधान व्यापार की परिव्याप्ति इसी से जानी जा सकती है कि न केवल उनके परवर्ती व्याख्याकार शंकुक ने अपने मत में अनुसंधान व्यापार को स्वीकृति दी, अपितु स्वयं अभिनवगुप्त ने अनुव्यवसाय, अनुकीर्तन आदि के विवेचन में लोल्लट के अनुसंधान व्यापार को ही पुनः स्थापित किया। यही नहीं, आगे चल कर काव्यानु-भूति के विवेचन में भी अनुसंधान व्यापार की अवधारणा प्रयुक्त हुई। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्यगत चमत्कार का कारण काव्यार्थ की भावना को माना और इस भावना का स्वरूप बताते हुए उन्होंने कहा कि यह पुनः-पुनः अनुसंधानरूप हुआ करती है।[४]

शंकुक की दृष्टि से कला की रचनाप्रक्रिया में अनुसंधान के पश्चात् अनुकरण व्यापार आता है। अनुसंधान व्यापार अनुकृति तथा अनुमिति—इन दोनों व्यापारों के मूल में रहता है। विभाव आदि की प्रतीति, जो नट के द्वारा सामाजिक में उत्पन्न की जाती है, काव्य आदि के अनुसंधान से ही हो सकती है (विभावादयः काव्यबला-दनुसन्धीयन्ते—अभिनवभारती में शंकुक-प्रकरण)।

अभिनवगुप्त ने शंकुक के मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि काव्य के ज्ञान से विभाव आदि का अनुसंधान करता है, शिक्षा से अनुभावों का तथा अपने अनुभव से व्यभिचारी भावों का। स्थायी भाव का अनुसंधान नहीं हो सकता, क्योंकि वह वाचिक नहीं है। इस प्रकार शंकुक में आकर लोल्लट के अनुसंधान व्यापार की परिपूर्ण व्याख्या हो जाती है। अनुसंधान के पश्चात् अनुकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। अनुकरण का अर्थ शंकुक की दृष्टि में मात्र नकल करना नहीं है, यह शंकुक ने चित्रतुरगन्याय का दृष्टान्त उपस्थित करके स्पष्ट कर दिया है। चित्र में बनाया गया अश्व यथार्थ अश्व की मात्र नकल न होकर पुनः सृष्टि है। यदि वह मात्र अनुकृति होता तो उसमें सादृश्य, मिथ्या आदि प्रतीतियाँ संभव हो सकती थीं, पर शंकुक उस चित्रगत अश्व के बोध को सम्यक् मिथ्या, संशय, सादृश्य—इन सब प्रतीतियों से अलग बताते हैं। वस्तुतः अनुकरण की यह अवधारणा भरत से ही प्रारंभ हो चुकी थी। भरत ने जहाँ एक ओर नाट्य को संसार के विभिन्न भावों का अनुकीर्तन बताया, वहीं उन्होंने स्पष्ट किया कि अनुकीर्तन या अनुकरण का तात्पर्य नकल करने से नहीं है, क्योंकि किसी की नकल करने से हँसी ही हो सकती है, रसानुभूति नहीं (परचेष्टानुकरणाद् हासः समुपजायते—ना० शा० ७।१०)। अतः भरत तथा शंकुक में अनुकरण का अर्थ नट तथा कला के सर्जक के द्वारा किये जाने वाले उस व्यापार से है, जिसकी परिणति रसास्वाद में हो। अनुकरण से मात्र नकल का अर्थ न ले लिया जाय, इसलिये अभिनव ने उपर्युक्त व्यापार-विशेष के रूप में उसकी प्रतीति कराने के लिये 'अनुव्यवसाय' शब्द का प्रयोग अधिक संगत समझा।[११]

भरत आदि आचार्यों की दृष्टि से कला के सृजन में अनुकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत पुनराविष्कार का तत्त्व सम्मिलित रहता है, जिसके कारण अनुकरण का व्यापार तथा कलाकृति—दोनों ही भौतिक जगत् के इतर व्यापारों तथा पदार्थों से विशिष्ट बन जाते हैं। कला की सर्जना में, जो वस्तु यथार्थ में जैसी है, वह हू-ब-हू वैसी ही उपस्थित नहीं की जाती, अनुसंधान तथा अनुकरण—इन दोनों व्यापारों के साथ उसका अन्यथाकरण भी चलता रहता है। आनन्दवर्धन, मम्मट आदि आचार्यों ने काव्य-सर्जना के प्रसंग में बल देकर यह कहा कि काव्य की सृष्टि विधाता की सृष्टि के समानान्तर सृष्टि है, जिसमें हमारे (भौतिक) संसार की वस्तुओं का रूपान्तरण हो जाता है।[१२] कला का सर्जक अपना एक संसार रचता है—यह मान्यता इन आचार्यों को परम्परा से मिली थी। इन दोनों आचार्यों ने प्राकृत के दो परम्परागत पद्य उद्धृत किये हैं, जिनमें अतथास्थित को तथास्थित तथा भुवनमण्डल को अन्य रूप में प्रकट करने की कविवाणी की शक्ति की चर्चा की गयी है।[१३] चित्रकला के प्रसंग में अन्यथाकरण की धारणा का स्पष्ट उल्लेख कालिदास ने चित्रनिर्माण के एक प्रसंग में किया है :

यद् यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत् तदन्यथा।
—शाकुन्तलम्, ५।१४

इस प्रकार कला की सर्जना-प्रक्रिया के ये तीन व्यापार—अनुसंधान, अनुकरण तथा अन्यथाकरण—प्राचीन आचार्यों ने काव्य, चित्र आदि विभिन्न कलाओं के सन्दर्भ में निरूपित किये। अन्तिम दो व्यापारों की अवधारणा किंचित् भिन्न रूप में पाश्चात्य कलाचिंतन में भी रही है। योरोप के कलाशास्त्री कर्जिन ने अन्यथाकरण को प्रकृति का आदर्शीकरण (आइडियलाइजेशन आव नेचर) कहा है।

कला की अनुभूति की व्याख्या भी इसी व्यापक संदर्भ में की गयी। शंकुक ने कहा था कि कला की रचना में विभाव आदि उपकरण कृत्रिम होते हुए भी अकृत्रिम प्रतीत होते हैं और उनकी यह प्रतीति भी संसार की इतर प्रतीतियों से भिन्न होती है (कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादि शब्दव्यपदेश्यैः—का० प्र०)। भट्टनायक ने इसी को विभावादि का साधारणीकरण कहा। शंकुक ने जिस तथ्य को चित्रकला के प्रसंग में स्पष्ट किया था, उसकी अन्विति अभिनव ने संगीत, नृत्य, काव्य आदि समस्त कलाओं में प्रदर्शित करते हुए यह स्पष्ट किया कि इन समस्त कलाओं में प्रदर्शित विभावादि के वैशिष्ट्य का परिहार हो जाता है। वे देशविशेष, कालविशेष से संबद्ध नहीं रह जाते और तब वे सर्वसाधारण हो जाते हैं—उनका अनुभव सबको एकरूप होता है और इस अनुभव के साथ तादात्म्य होना कला के प्रभाव की परिणति है :

तथाह्येकाग्रसकलसामाजिकजनः खलु ।
नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते ॥
तत एवोच्यते मल्लनटप्रेक्षोपदेशने ।
सर्वप्रमातृतादात्म्यं पूर्णरूपानुभावकम् ॥
—तन्त्रालोक, १०।५।८५

नृत्य, नाट्य, संगीत, काव्य आदि विभिन्न कलाओं से होने वाला यह अनुभव अभिनवगुप्त की दृष्टि से अपनी परिणति में एकरूप ही होता है, कला के उपकरणों के द्वारा एक ही सर्वात्मक चैतन्य सबके भीतर प्रतिबिम्बित हो जाता है।[१४]

अलग-अलग कलाओं में रचनाप्रक्रिया की दृष्टि से अन्विति तथा उनकी अनुभूति की एकरूपता भारतीय कलाचिन्तन में प्रतिभासिद्धान्त के द्वारा विशद रूप में निरूपित हुई है। इस दृष्टि से रचनाकार के लिये कारयित्री तथा भावक के लिये भावयित्री—ये प्रतिभा के दो प्रकार बताये गये। दण्डी, वामन, रुद्रट, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने रचनाकार की प्रतिभा में कलासर्जना की स्थिति में होने वाले निम्नलिखित व्यापारों का उल्लेख किया है—आकस्मिक प्रत्यवभास, नवोन्मेष, सत्वस्थता अथवा समाधि तथा चैतन्य-रूपता। चित्रकला के प्रसंगों में इन व्यापारों का उल्लेख कालिदास आदि कवियों ने अनेकत्र किया है।[१५] विभिन्न कलाओं में व्यापृत होने वाली यह सर्जनाशक्ति—प्रतिभा—मूलतः एक है, पर उसकी परिणतियाँ विभिन्न होती हैं।

अभिनवगुप्त ने प्रतिभा को सर्जना की मूलशक्ति बताते हुए प्रतिपादित किया कि यह चराचर जगत् में व्याप्त है तथा समस्त कार्यकलापों का मूल है। बुद्धि या विचार की शक्ति के अभाव में भी प्राणी प्रतिभा की उपस्थिति के कारण विभिन्न कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।[१६] समस्त कलाओं के मूल में यह प्रतिभा रहती है। इस प्रकार भारतीय कलाचिन्तन में प्रतिभा-सिद्धान्त के आधार पर कलाओं के अन्तःसंबंध की मूलभूमि समझी जा सकती है।

प्रतिभा के संबंध में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अवधारणा उसके स्वातन्त्र्य की है। अभिनव ने प्रक्रिया को स्वातंत्र्यरूपिणी कहा है। उसके इस स्वातन्त्र्य के कारण कलाकार किसी भी बाहरी अनुशासन को स्वीकार करने के लिये बाध्य नहीं है, उसकी प्रतिभा अपनी स्वतन्त्रता में गुणदोष का विवेक स्वयं करती है। इस स्वातन्त्र्यरूप प्रतिभा के कारण ही कलाकार के द्वारा रचना के बंधे-बंधाये नियमों का अतिक्रमण भी सुन्दर रूप में परिणत होता है।[१७]

प्राचीन भारतीय कलाचिन्तन के उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि जहाँ उसमें विभिन्न कलाओं में अनुस्यूत समान तत्त्वों पर विशद विचार हुआ है, वहीं प्रत्येक कला के स्वातन्त्र्य को भी उसी दृढ़ता से स्वीकारा गया है। आजकल कुछ विद्वान भारतीय कलाचिन्तन की परम्परा में कलाओं के अन्तरवलम्बन की धारणा पर अत्यधिक बल देते हुए इस तथ्य को भुला देते हैं। यह समझना भूल होगी कि कलाओं की समानधर्मिता पर विचार करते समय पुराने आचार्य किसी कला की अपनी इयत्ता को स्वीकार नहीं करते, अथवा उनकी दृष्टि में एक कला को इतर कलाओं पर अवलंबित होना ही पड़ता है। इसके विपरीत उनकी दृष्टि में कोई भी कला अन्य कलाओं के उपादानों, धर्मों तथा नियमों को वहीं तक स्वीकार कर सकती है, जहाँ तक उसका अनुशासन इसके लिये अनुमति देता है। प्रत्येक कला का अपना एक पृथक् अनुशासन होता है, जो रचनाकार की प्रतिभा से ही निर्मित होता है, क्योंकि कलाकार अपने रचनासंसार को निर्मित करने में पूर्णतः स्वतन्त्र है।[१८] रचनाकार की प्रतिभा अपने मूल में एक ही है, पर उसका उन्मेष हर बार नवीन होता है, अतः उसे नवनवोन्मेषशालिनी कहा गया है (प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता—भट्टतौत)। रचनाप्रक्रिया की दृष्टि से विभिन्न कलाओं की सर्जना में आकस्मिक प्रत्यवभास, सत्वस्थता जैसे कुछ व्यापार समान हो सकते हैं, परन्तु विभिन्न कलाओं में उनका विनियोग विशिष्ट रूप में ही होगा। कला की अनुभूति भी भले ही अपनी परिणति में एकरूप हो, पर उसके पूर्व विभिन्न कलाओं के आस्वादन में तारतम्य और वैशिष्ट्य को नकारा नहीं जा सकता। किसी कलाविशेष को अपने स्वरूप में अवस्थित होने के लिये इतर कलाओं का आश्रय लेना ही चाहिए—ऐसा कोई अभिमत प्राचीन भारतीय आचार्यों का नहीं मिलता। इसके विपरीत

कला की स्वतन्त्रता पर उनका स्पष्ट अभिमत मिलता है। कोई कला अपने विशिष्ट आधार पर ही अभिव्यक्ति पाती है। यह सत्य है कि भरत ने नाट्य में संगीत, नृत्य, काव्य आदि विभिन्न कलाओं की उपस्थिति का निर्देश किया है, पर उनके अनुसार इन कई कलाओं का मिश्रण कर देने भर से नाट्य नहीं हो जाता। मंच पर प्रस्तुत होने वाले नाट्य का मूल तत्त्व नाट्यधर्मी है। नाट्यधर्मी की अवधारणा पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए भरत ने स्पष्ट किया है कि उसके बिना नाट्य नाट्य नहीं रहता।[१५] विभिन्न कलाओं के तत्त्व तथा लोकव्यवहार के पदार्थ जब नाट्यधर्मी के द्वारा नाट्य की शैली में ढलते हैं, तभी उनसे नाट्य अपने स्वरूप को पाता है। नाटक के मंचन में वस्तु के स्वभाव का अतिक्रमण, समीपस्थ पात्र के भी (स्वगत) कथन को इतर पात्रों का न सुनना, मंच पर पर्वत, रथ, विमान, आयुध आदि को नाटक की शैली में दिखाया जाना, एक अभिनेता द्वारा एकाधिक भूमिकाओं का निर्वाह, सुखदुःखसमन्वित लोकस्वभाव का अभिनय की शैलियों में प्रदर्शन—ये समस्त व्यापार नाट्यधर्मी तत्त्व के भीतर आ जाते हैं।[१७] नाट्य का केन्द्रीय आधार नाट्यधर्मी है। यदि नाट्य में काव्य, संगीत, नृत्य आदि विभिन्न कलाओं का उपयोग होता है, तो वह भी नाट्यधर्मी के अनुशासन के भीतर उन कलाओं को ढाल कर—उनका अन्यथाकरण संपादित करते हुए—ही होना चाहिए। इसी प्रकार भारतीय आचार्यों की दृष्टि में काव्य का केन्द्रीय आधार शब्द है, जिसके कारण वह नृत्य, संगीत, चित्र तथा वास्तु आदि कलाओं से स्वतन्त्र इयत्ता रखता है। काव्य के इस केन्द्रीय आधार को सामने रख कर ही पुराने आचार्यों ने शब्दब्रह्म की कल्पना की। पर संगीत का मूल आधार शब्द नहीं, नाद है, जिसके कारण वह काव्य आदि इतर कलाओं से स्वतन्त्र इयत्ता रखता है। नाद की इस केन्द्रीय अवधारणा को संगीत के प्रसंग में दार्शनिक आधार देने के लिये आचार्यों ने उसे नादब्रह्म कहा। इसी प्रकार चित्रकला का केन्द्रीय तत्त्व रूप है, जिसके कारण वह अन्य कलाओं से स्वतन्त्र सत्ता रखती है। वास्तु का मूल वास्तुब्रह्म है। ये कलाएं एक दूसरे के तत्त्वों को ग्रहण करके अपनी निजता को नहीं खो देतीं। काव्य में भी लय तथा छन्द रहते हैं, पर काव्य के अपने अनुशासन में ढल कर ही। इसलिये काव्य संगीत से स्वतन्त्र बना रहता है; नाट्य में नाद, रूप, शब्द आदि तत्त्व रहते हैं, फिर भी वह संगीत आदि कलाओं से अलग इयत्ता रखता है। इस प्रकार कलाओं के परस्पर अवलंबन और सहकारिता के साथ ही प्रत्येक कला के निजी अनुशासन तथा उसकी अपनी इयत्ता और स्वातन्त्र्य की अवधारणा भी प्राचीन भारतीय कलाचिन्तन में विद्यमान रही है।

संस्कृत विभाग, सागर विश्वविद्यालय
(मध्य प्रदेश)

संदर्भ :

१. विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य : संस्कृत लिटरेचर एण्ड आर्ट, डा० शिवराम मूर्ति, लक्ष्मी बुक स्टोर, नयी दिल्ली, १९७०।
२. ट्रांसफार्मेशन आफ नेचर इन आर्ट : आनन्दकुमार स्वामी, डावर बुक्स, न्यूयार्क, १९५६, पृ० ४६।
३. रस समुदायो हि नाट्यम्। न नाट्ये एव रसाः, काव्येपि नाट्यायमान एव रसः।
...न नाट्ये एव रसाः काव्येपि। काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव।... तत्र ये स्वभावतो निर्मलमुकुरहृदयास्त एव संसारोचित-क्रोधमोहाभिलाषपरवशमनसो न भवन्ति• तेषां तथाविधदशरूपकाकर्णनसमये साधारणरसनात्मकचर्वणाग्राह्यो रस-संचयो नाट्यलक्षणः स्फुट एव। ये त्वथाभूतास्तेषां प्रत्यक्षोचिततयाविधचर्वणालाभायनटादिक्रिया स्वगतक्रोधशोकादिसंकटहृदयग्रन्थिभंजनाय गीतादिक्रिया च मुनिना विरचिता। नाट्यशास्त्र–अभिनवभारती, गायकवाड़ ओरि० सी० भाग–१, पृ० २९१–९२।
४. तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः।—वही, काशी हिन्दू वि० वि० सं०, प्रथम भाग, (१९७१), पृ० ६५८ :
५. द्रष्टव्य–वही, १८।४२, ४३, ४६ आदि।

६. एष एव च प्रकारः कलाविधिना निबध्यमानो राघवविजय-मारीचवधादिकं रागकाव्यमुद्भावयति इति यथोक्तं कोहलेन :

लयान्तरप्रयोगेण रागैश्चापि विवर्धितम् ।
नानारसं सुनिर्ग्राह्यकथं काव्यमिति स्मृतम ।।—ना० शा० ४।२७२ पर अ० भा० ।

७. चित्रसूत्रं न जानाति यस्तु सम्यङ्नराधिप ।
प्रतिमालक्षणं वेत्तुं न शक्यं तेन कर्हिचित् ।।
बिना तु नृत्तशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम् ।
जगतोऽनुक्रिया कार्या द्वयोपि यतो नृप ।।
आतोद्यं यो न जानाति तस्य नृत्तं सुदुर्विदम् ।
आतोद्येन बिना नृत्तं विद्यते न कथंचन ।।
न गीतेन बिना शक्यं ज्ञातुमातोद्यमच्युत ।
गीतशास्त्रविधानज्ञः सर्वं वेत्ति यथाविधि ।।
—विष्णुधर्मोत्तरपु०, खण्ड–३, अ०–२, २–८ ।।

८. द्रष्टव्य–वही, ३।४१।७–८ तथा ४३।— ।
मध्यमपंचमभूयिष्ठं हास्यशृंगारयोर्भवेत् ।
षड्जर्षभप्रायकृतं वीररौद्राद्भुतेषु च ।।
गान्धारसप्तमप्रायं करुणो गानमिष्यते ।
तथा धैवतभूयिष्ठं बीभत्से सभयानके ।।—ना० शा० २६।१३–१४ ।
स्वरों की रसव्यंजकता के विवेचन के लिये संगीतरत्नाकर (पृ० ६८) भी द्रष्टव्य ।

९. व्यंजयति कर्तृं शक्तिं कलेति तेनेह कथिता सा ।—शैवागम ।

१०. रसगंगाधर, प्रथम आनन, चौखम्भा सं०, पृ० ११ ।

११. अभिनवभारती, गायकवाड़ सं०, प्रथम भाग, पृ० ३६–३७ ।

१२. भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत् ।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ।।—ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत ।

१३. अतहट्ठिये वि तह सण्ठिए व्व हिअअम्मि जा णिवेसेइ ।
अत्थबिसेसे जअइ कइ गोअरा वाणी ।।—वही ।
जा ठेरं व हसन्ती कइवअणंबुरुहवद्धविणिवेसा ।
दावेइ भुवणमंडलमण्णं विअ जअइ सा वाणी ।।—मम्मट द्वारा का० प्र० में उद्धृत ।

१४. संविदसर्वात्मिका देहभेदात् संकुचेत्तु सा ।
मैलकेऽन्योन्यसंघट्टप्रतिबिम्बाद्विकस्वरा ।।
उच्छलन्निजरश्म्योघ : संवित्सु प्रतिबिम्बितः ।
बहुदर्पणवद्दीप्त : सर्वदेतादप्ययत्नतः ।
अत एव नृत्तगीतप्रभृतौ बहुपद्धदि ।
यः सर्वतन्मयीभावे ह्लादो नत्वेककस्य सः ।।
आनन्दनिर्भरा संवित् प्रत्येकं सा तथैकताम् ।
नृत्तादौ विषये प्राप्ता पूर्णानन्दत्वमश्नुते ।।—तन्त्रालोक, अ० २७ ।

१५. सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता ।—मालविकाग्निमित्र, २।२ ।
चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा
रूपोच्चयेन विधिना मनसा कृता नु ।।—अभिज्ञानशाकु० २।९

१९. यन्मूलं शासनं तेन न रिक्तः कोपि जन्तुकः । व्युत्पत्तेर्हि प्रतिभात्मकमेव वस्त मूलम् । न च तेन प्रतिभात्मना वस्तुना तिर्यक्प्रायोपि कश्चिज्जन्तुः स्वोचितव्यापारनैपुण्यान्यथानुपपत्या रिक्तः । अत एव व्यवहाराः प्रतीयन्ते तिरश्चामपि यद्वशात् इत्युक्तम् ।—तन्त्रालोक, १३।८९ ।

१७. न वै दोषा दोषा न खलु गुणा एव च गुणा
निबद्धुः स्वातन्त्र्यं सपदि गुणदोषान् विभजते ।
इयं सा वैद्यग्धी प्रकृतिमधुरा तस्य सुकवे–
र्यदत्रोत्पादादप्यतिसुभगभावः परिणतः ॥
(अभिनवगुप्त : घटकर्परकुलकवृत्ति)

१८. अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥—ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत ।

१९. नाट्यधर्मीप्रवृत्तं हि सदा नाट्यं प्रयोजयेत् ।—ना० शा० १३।७६

२०. अतिवाक्यक्रियोपेतमतिसत्त्वातिभाषितम् ।
लीलांगहाराभिनयं नाट्यलक्षणलक्षितम् ॥
स्वरालंकारसंयुक्तमस्वर्भपुरुषाश्रयम् ।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ॥
आसन्नोक्तं च यद्वाक्यं न श्रृण्वन्ति परस्परम् ।
अनुक्तं श्रूयते वाक्यं नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ॥
शैलयानविमानानिचर्मवर्मायुधध्वजाः ।
मूर्तिमन्तः प्रयुज्यन्ते नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ॥
ललितैरंगविन्यासैस्तथोत्क्षिप्तपदक्रमैः ।
नृत्यते गम्यते यच्च नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ॥
यश्च कश्यांविभागोऽयं नानाविधिसमन्वितः ।
रंगपीठगतः प्रोक्तो नाट्यधर्मी तु सा भवेत् ॥
——ना० शा० १३ । ६६–७५ ।

कला की कसक

हिमालय के अंक में बसे एक छोटे से गाँव का वह कलाकार बचपन से ही गायन-वादन के पीछे बावला बना रहता था। जाति-बान्धवों ने भी सोचा—घर-खेती से इसको क्या ? यह तो अपना पेट गा-बजा कर ही भर लेगा। राजस्व-कर्मचारियों से मिलकर झूठे अभिलेखों के बल पर उन्होंने उसकी सारी पैतृक सम्पत्ति आपस में बाँट ली। कलाकार को वस्तुस्थिति का पता चला तो उसने न्यायालय में पुकार की। निचले न्यायालय में हारा तो जिला-न्यायालय में गया। वह सीधे-सीधे सच्ची बात करता था, न्यायाधीश महोदय को अभिलिखित प्रमाण चाहिए थे, वकीलों की 'दलीलें' अपेक्षित थीं। यह सब उसके पास नहीं था। न्यायाधीश सब कुछ समझते हुए भी औपचारिक प्रक्रिया से बाहर उसकी कोई सहायता करने को तैयार नहीं थे, वह न्याय खरीदने के लिये 'लोक-व्यवहार' की कीचड़ में उतरने को तैयार नहीं था। निर्णय पुनः उसके विरुद्ध गया। घर-द्वार से निष्कासित होकर उसके लिये हरिभजन का ही काम शेष रह गया।

न्यायाधीश महोदय संगीत-प्रेमी थे। एक रात किसी शुभ-प्रसंग पर उन्होंने अपने घर में संगीतमय उत्सव का आयोजन किया था। घर के बाहर मैदान में बने पण्डाल में बहुत से दर्शक-श्रोता एक प्रसिद्ध कलाकार की कला का रसास्वादन कर रहे थे। गद्‌गद् न्यायाधीश महोदय गर्व से दर्शकों के मुखों पर आने वाले मनोभावों को पढ़ रहे थे। तभी उनकी दृष्टि उस भीड़ में एक ऐसे व्यक्ति पर पड़ी, जिसके मुख पर बार-बार एक टीस-सी उभरती थी जिसके साथ ही उसका बिखरे बालों वाला सिर एक ओर खिच जाता। विराम होते ही उन्होंने उस व्यक्ति को बुलाकर कारण पूछा। उसने बताया—वह कलाकार बार-बार भूल से एक विवादी स्वर का प्रयोग कर रहा है, जिससे मेरे हृदय में टीस होती है। न्यायाधीश ने पहचाना कि यह उनके न्यायालय से हारा हुआ व्यक्ति है। सब लोग जिस कार्यक्रम पर मुग्ध थे, इसे उसमें दोष दिखता था। उन्होंने इस व्यक्ति से कार्यक्रम प्रस्तुत करने को कहा। कलाकार गा रहा था—

"मैं तो रमता जोगी राम। मेरा दुनिया से क्या काम।"

सारा वातावरण गहन निर्वेद में डूब गया। पता नहीं कब न्यायाधीश महोदय कुर्सी से खिसक कर भूमि पर पहुँच गये। गायन समाप्त होने के बाद वह गायक तो पता नहीं कहाँ गया, पर न्यायाधीश महोदय दुबारा न उस कुर्सी पर बैठे, न न्यायालय की कुर्सी पर। 'न्यायिक सेवा' में दूसरे दिन वे नहीं, उनका त्यागपत्र गया।

□

ओमप्रकाश एवं शीतलाप्रसाद

भारतीय श्रमिक-आन्दोलन

....(२)

(गतांक से आगे)

तृतीय चरण

१९२४ ई० से १९२७ ई० के बीच भारतीय श्रम-संघ-आन्दोलन में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। कर्मचारियों ने आवश्यकतानुसार श्रम-संघ बनाने प्रारंभ किये। १९२७ ई० के अन्त में श्रमसंघों की संख्या १९४ तथा उनकी सदस्य-संख्या १,९८,००० थी। इनमें से ६८,००० सदस्य खानों तथा उद्योगों के, ७५,००० परिवहन तथा ५०,००० सरकारी व्यवस्थाओं के थे।[८]

युद्ध के पश्चात् उद्योग में मन्दी आ गयी तथा वस्तुओं की मांग पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। युद्धोपयोगी सामान की आवश्यकता न होने पर बहुत से उद्योग-धन्धे या कारखाने बन्द हो गये। फलस्वरूप बेकार श्रमिकों की संख्या में वृद्धि होने लगी। उस समय भी बहुत सी हड़तालें हुईं, यद्यपि उन्हें अधिक सफलता नहीं मिल सकी। १९२४ ई० में बम्बई के लगभग डेढ़ लाख सूती मिल मजदूरों ने वेतन कटौती के प्रश्न पर हड़ताल की। मिल मालिक एक वर्ष के पश्चात् वहाँ कर्मचारियों की मंहगाई में २० प्रतिशत कटौती करने लगे, जिसके फलस्वरूप पुनः हड़ताल हुई और वह अन्त में सफल हुई। सरकार ने उत्पादन-शुल्क समाप्त कर दिया और सेवायोजकों ने मंहगाई में कटौती करने का विचार छोड़ दिया। गोरखपुर, खड़गपुर के कारखानों (वर्कशाप) में भी हड़ताल हुई।

१९१९ ई० के 'गवर्नमेंट आफ इण्डिया ऐक्ट' के अनुसार प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं में श्रमिक-प्रतिनिधियों के लिये कुल ९ स्थान सुरक्षित किये गये और उनकी पूर्ति इस प्रकार की गयी—बम्बई में ३, बंगाल में २, आसाम, बिहार, उड़ीसा, सेण्ट्रल प्राविन्सेस, पंजाब—प्रत्येक में एक।

इस बीच श्रमिकों के लिये बहुत से विधान (कानून) भी पारित हुए। कारखाना कानून में १९२२ ई० में संशोधन किया गया और कार्य के साप्ताहिक घंटे ६० और दैनिक ११ निर्धारित किये गये। १९२३ ई० में 'इण्डियन माइन्स ऐक्ट' पारित किया गया और उसी

वर्ष कर्मचारियों के लाभार्थ क्षतिपूर्ति अधिनियम भी पारित किया गया। १९२६ ई० में 'इण्डियन ट्रेड यूनियन ऐक्ट' पारित किया गया, जिसमें श्रम-संघ कार्यकर्त्ताओं को ट्रेड यूनियन कार्य के लिये संरक्षण प्रदान किया गया। इसके अन्तर्गत श्रम-संघों के पंजीकरण (रजिस्ट्रेशन) की व्यवस्था की गयी, जिसके अनुसार श्रम-संघों को कुछ नियमों का पालन करना और सदस्य-संख्या तथा आय-व्यय का विवरण देना अनिवार्य कर दिया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत श्रम-संघों का पंजीकरण अनिवार्य नहीं किया गया था, किन्तु श्रम-संगठनों ने पंजीकरण की महत्ता समझ धीरे-धीरे इसे स्वतः कराना प्रारम्भ किया।

आल इण्डिया ट्रेड-यूनियन कांग्रेस की वार्षिक बैठक नियमित रूप से हुआ करती थी। निम्न तालिका से इसकी १९२१ ई० से १९२७ ई० तक की गतिविधि का पता चलता है[९]—

वर्ष	अधिवेशन की संख्या	अधिवेशन का स्थान	सभापति का नाम
१९२१ नवम्बर . . .	२	झरिया	श्री जे० वापतिस्त
१९२३ मार्च . . .	३	लाहौर	श्री सी० आर० दास
१९२४ मार्च . . .	४	कलकत्ता	श्री सी० आर० दास
१९२५ फरवरी . . .	५	बम्बई	श्री डी० आर० ठेंगड़ी
१९२६ जनवरी . . .	६	मद्रास	श्री बी० वी० गिरि
१९२७ मार्च . . .	७	दिल्ली	श्री चन्द्रिका प्रसाद
१९२७ दिसम्बर . . .	८	कानपुर	श्री दीवान चमनलाल

इससे ज्ञात होता है कि आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अध्यक्षों में से इण्डियन नेशनल कांग्रेस के कुछ चोटी के नेता भी थे। श्री एन० एम० जोशी प्रारंभ से ही आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस से संबंधित रहे। १९२५ ई० में वे एटक (आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस) के संयुक्त प्रधानमंत्री चुने गये और दो वर्ष पश्चात् मुख्य सचिव निर्वाचित हुए। इस पद पर वे १९२९ ई० तक बने रहे। आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस की प्रान्तीय शाखाएं भी खोली गयीं और प्रान्तीय सम्मेलन करने का श्रीगणेश हुआ। 'ट्रेड यूनियन बुलेटिन' का भी प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अधिवेशनों में बहुत से प्रस्ताव पारित किये जाते थे। एटक के अन्तरराष्ट्रीय श्रम-संगठनों से संबद्ध होने के प्रश्न पर कई अधिवेशनों में मतभेद होता रहा, परन्तु कोई न कोई हल निकाल कर उसकी एकता स्थिर रखी गयी।

आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अतिरिक्त एक दूसरी संस्था 'लेबर लीग आफ इण्डिया' की स्थापना कलकत्ता में १९२३ ई० में श्री के० सी० राय चौधरी तथा अन्य नेताओं द्वारा की गयी। भारत-सरकार ने श्री के० सी० राय चौधरी को श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करने के लिये जेनेवा भेजा था, तदनन्तर उस संस्था की क्रियाशीलता के संबंध में कुछ पता नहीं चलता। १९२५ ई० में दिल्ली में पुनः एक 'लेबर पार्टी' की स्थापना के संबंध में प्रयत्न किये गये और पार्टी की नियमावली तथा विधान बनाने के लिये एक उपसमिति बनायी गयी, जिसमें लाला लाजपतराय को सभापति तथा श्री डी० पी० सिन्हा को संयोजक चुना गया। १९२५ ई० के आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अध्यक्ष श्री डी० आर० ठेंगड़ी ने 'लेबर पार्टी' के लिये प्रयत्न किया, जिसका कार्य मुख्यतया व्यवस्थापिका-सभाओं में श्रमिकों के हितों का

वैधानिक रीति से
बम्बई में 'रिप्रजे
प्रान्तीय व्यवस्था
में श्रमिकों के हित
इसके संबंध में आ
और यह पार्टी ए

एटक में साम्य

आल इण्डिया ट्रे
अधिवेशन में अ
आफ लेबर यूनि
हुए उसे 'अन्तर
सम्मिलित होने
ट्रेड यूनियन कांग्रे
प्रति सहानुभूति
सहायता करने के

रूसी क्रान्ति तथ
धारा के प्रति भ
साम्यवादी सा
किन्हीं अंशों त
एण्ड द मासेज'
अमृत डांगे ने
मुजफ्फर अहम
'जनवाणी' का
इन पत्रों के द्वा
प्रारम्भ हुआ
सतर्क थी। १
पिरेसी केस'
अहमद, शौकत
और उन्हें क
राय मुख्य अभि
के कारण उन्हें
को कारागार
पर विशेष प्र

सर्वश्री डांगे त
गार से छूटे।

वैधानिक रीति से संरक्षण करना था। १९२८ ई० में बम्बई में 'रिप्रजेन्टेशन कमेटी' की स्थापना केन्द्रीय, प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं तथा स्थानीय निकायों में श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिये की गयी,[५०] परन्तु इसके संबंध में आगे चलकर कोई विवरण नहीं मिलते और यह पार्टी एक प्रकार से समाप्त हो गयी।

एटक में साम्यवादी विचारधारा का प्रवेश

आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के द्वितीय झरिया अधिवेशन में अक्तूबर, १९२१ ई० में 'रेड इण्टरनेशनल आफ लेबर यूनियन्स' ने अपनी शुभकामनाएँ व्यक्त करते हुए उसे 'अन्तरराष्ट्रीय संगठन में समानता के आधार पर सम्मिलित होने के लिये' आमंत्रित किया। आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने भी उस अधिवेशन में रूसी जनता के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए विश्व के श्रमिकों से उनकी सहायता करने के लिये अनुरोध के प्रस्ताव पारित किये।[५१]

रूसी क्रान्ति तथा जारशाही के अन्त से साम्यवादी विचार-धारा के प्रति भारत में भी कुछ लोगों का आकर्षण हुआ। साम्यवादी साहित्य का भी प्रभाव बुद्धिजीवी वर्ग पर किन्हीं अंशों तक पड़ा। श्री मानवेन्द्र नाथ राय ने 'बेनगर्ड एण्ड द मासेज' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। श्री श्रीपाद अमृत डांगे ने साप्ताहिक पत्र 'सोशलिस्ट' का तथा श्री मुजफ्फर अहमद ने कलकता से बंगला साप्ताहिक पत्र 'जनवाणी' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस प्रकार इन पत्रों के द्वारा भी साम्यवादी विचारधारा का प्रचार प्रारम्भ हुआ। ब्रिटिश सरकार भी इसके प्रति पूर्ण सतर्क थी। १९२४ ई० में 'कानपुर कम्युनिस्ट कान्स-पिरेसी केस' में सर्वश्री श्रीपाद अमृत डांगे, मुजफ्फर अहमद, शौकत उस्मानी आदि पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें कारावास दिया गया। श्री मानवेन्द्र नाथ राय मुख्य अभियुक्त थे, किन्तु उस समय यूरोप में रहने के कारण उन्हें बन्दी न बनाया जा सका। इन नेताओं को कारागार भेजने से साम्यवादी विचारधारा के प्रचार पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

सर्वश्री डांगे तथा मुजफ्फर अहमद १९२५ ई० में कारा-गार से छूटे। उनके बाहर आ जाने से साम्यवादी गति-विधियों में कुछ वृद्धि प्रारम्भ हुई। बम्बई में श्री डांगे के सम्पादकत्व में एक साप्ताहिक पत्र 'क्रान्ति' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। १९२४ ई० में 'कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल' की पांचवीं कांग्रेस ने यह सम्मति दी कि 'भारतीय साम्य-वादी दल को श्रम-संघ-आन्दोलन अपने प्रभाव में कर लेना चाहिए और उसे एक वर्ग के आधार पर पुनर्गठित करना चाहिए'।[५२] श्री धुंदिराज थेंगड़ी फरवरी १९२५ ई० में बम्बई में आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के पांचवें अधिवेशन में अध्यक्ष निर्वाचित हुए। वे साम्य-वादी विचारधारा के कट्टर समर्थक थे। १९२७ ई० में एक प्रसिद्ध साम्यवादी श्री एस० बी० घाटे को आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस का एक मंत्री बनाया गया। इन लोगों का यह प्रयत्न हुआ कि आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस का 'इण्टरनेशनल फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियन्स' से संबंध तोड़ कर उसे 'रेड इण्टरनेशनल आफ लेबर यूनियन्स' से संबद्ध कर दिया जाय। श्रम-संघ के अन्य कार्यकर्त्ता सर्वश्री एन० एम० जोशी, दीवान चमनलाल, वाराह वेंकट गिरि आदि इस विचार के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि उनका झुकाव ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस तथा ब्रिटिश लेबर पार्टी की ओर अधिक था। यद्यपि साम्यवादियों को इसमें सफलता न मिल सकी, फिर भी उनका प्रभाव एटक के श्रम-संगठनों पर धीरे-धीरे बढ़ता गया।

इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने 'साइमन कमीशन' का बहि-ष्कार करने का निश्चय किया। साम्यवादी नेताओं और उनके अन्तर्गत संचालित श्रम-संगठनों ने भी खुल कर इस 'कमीशन' का विरोध किया। बम्बई के अतिरिक्त बंगाल, संयुक्त प्रान्त (उ० प्र०), पंजाब, मद्रास आदि प्रान्तों के श्रम-संगठनों में साम्यवादी धीरे-धीरे प्रवेश करने लगे। 'कानपुर कम्युनिस्ट कान्सपिरेसी केस' के निर्णय के पश्चात् साम्यवादी कार्यकर्त्ता 'नवजवान-सभा', 'यूथ लीग', 'कीर्ति किसान पार्टी' आदि विभिन्न नामों से संगठन संचालित करने लगे और उनपर अपना नियंत्रण रखने का प्रयत्न करते रहे।

१९२८ ई० में बम्बई में साम्यवादियों के नेतृत्व में सूती मिल कर्मचारियों की एक बड़ी लम्बी हड़ताल सरूपीकरण योजना के प्रश्न पर हुई, जो अप्रैल से अक्तूबर

तक चली। अक्तूबर में सरकार ने उक्त योजना की जांच के लिये तथा श्रमिकों के लिये बिना कठिनाई उत्पन्न किये हुए योजना किस प्रकार लागू की जा सकती है, इस पर सुझाव देने के लिये 'फासेट कमेटी' बैठायी।

कलकत्ता में जूट मिल कर्मचारियों में बड़ा असन्तोष था। 'ईस्ट इण्डिया रेलवे' के लिलुआ वर्कशाप के कर्मचारियों ने भी हड़ताल कर दी। जमशेदपुर में भी एक लम्बी हड़ताल हुई, जो १०५ दिनों तक चली। इन हड़तालों में साम्यवादियों का प्रभाव, स्पष्ट रूप से औद्योगिक स्थिति पर भी पड़ा। औद्योगिक विवादों की संख्या जो १९२६ ई० में १२८, १९२७ ई० में १२६ थी, वह १९२८ ई० में बढ़कर २०३ तक पहुंच गयी।

ब्रिटिश सरकार ने १९२९ ई० में साम्यवादी नेताओं पर सरकार उलटने के आरोप में एक मुकदमा चलाया, जो 'मेरठ कम्युनिस्ट कान्सपिरेसी केस' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें देश के लगभग सभी प्रसिद्ध साम्यवादी नेता, जैसे बम्बई से सर्वश्री श्रीपाद अमृत डांगे, आर० एस० निम्बकर, के० एन० जोगेलकर, एस० एस० मिराजकर, कलकत्ता से सर्वश्री मुजफ्फर अहमद, गोपाल बरूक, शमसुल हुदा, संयुक्त प्रान्त (यू०पी०) से श्री पूरनचन्द्र जोशी तथा तीन ब्रिटिश कम्युनिस्ट सर्वश्री फिलिप स्प्रैट, बी० एफ० ब्रैडले और लेस्टर हचिनसन आदि, बन्दी बनाये गये। अभियोग (मुकदमा) १९३२ई० में निर्णीत हुआ और सभी को कारावास का दण्ड दिया गया। अपील में कारावास की अवधि घटा दी गयी और अधिकतम अवधि तीन वर्ष की रह गयी। सरकार ने दमन-नीति से साम्यवादी-आन्दोलन को समाप्त करने का प्रयत्न किया, इससे अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट संगठन को साम्राज्यवादी सरकार की दमन-नीति के विरुद्ध प्रचार करने का सुअवसर भी मिल गया।

साम्यवादी नेताओं के कारागार जाने से अनुभवी श्रम-संघ नेताओं की कमी हो गयी। साम्यवादी प्रभाव के अन्तर्गत श्रम-संगठनों का नेतृत्व, सर्वश्री वी० टी० रणदिवे और एस० वी० देशपाण्डे के हाथों में आ गया। साम्यवादी सिद्धान्तों से पूर्णतया परिचित होने पर भी इनमें श्रम-संघ के कार्यों में अनुभव की कमी थी। बम्बई के सूती मिल कर्मचारियों में फासेट कमेटी की सिफारिशों पर कुछ असन्तोष था, इस स्थिति से लाभ उठाकर साम्यवादी नेताओं ने सूती मिलों में हड़ताल करा दी। हड़ताल पूर्णतया विफल रही और श्रम-संगठन की व्यवस्था भी पूर्णतया छिन्न-भिन्न हो गयी तथा जहाँ जनवरी १९२९ ई० में सदस्यों की संख्या ५५,००० थी, वहाँ जून १९३० ई० में उनकी संख्या घट कर केवल ८०० रह गयी।[१३] सूती मिल कर्मचारियों की हड़ताल का प्रभाव बम्बई के अन्य उद्योगों के श्रम-संघों पर भी पड़ा और उनकी सदस्य-संख्या में भी कमी हो गयी। उस समय देश में भारी आर्थिक मन्दी आ गयी थी। सेवायोजकों ने श्रमिकों की असंगठित स्थिति से लाभ उठाकर भारी संख्या में छंटनी प्रारम्भ कर दी और उनके पारिश्रमिक (मजदूरी) में भी कटौतियां प्रारम्भ कीं।

दूसरी ओर 'कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल' के छठवें कांग्रेस में भारतीय साम्यवादी दल को यह परामर्श दिया गया कि उसे अन्य दलों से अलग रह कर कार्य करना चाहिए। 'यंग कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल' ने जनवरी, १९३० ई० में भारतीय नवयुवकों, कर्मचारियों तथा किसानों के नाम खुला पत्र भेजा, जिसमें और अधिक स्पष्ट विचार प्रकट किया गया कि "'नेशनल कांग्रेस' क्रान्तिकारी आंदोलन में रुकावट डालती है, इसने भारतीय जनता के साथ विश्वासघात किया है और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध यह संघर्ष नहीं कर सकती। अपने संबंध नेशनल कांग्रेस तथा लीग आफ इण्डिपेण्डेंस से तोड़ लो। उनकी असत्यता तथा विश्वासघात को प्रकट करो। यह दिखा दो कि ये ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सहायक हैं। अपने बीच से विश्वासघातियों को निकाल दो।"[१४]

अखिल चीन लेबर फेडरेशन ने भी यह संदेश भेजा था कि 'गांधी के नेतृत्व में इण्डियन नेशनलिस्ट पार्टी चीन के कोमिंटांग की ही भांति है। दोनों साम्राज्यवाद के ही साधन हैं। हमें गाँधी की ओर किंचित् भी भ्रम में नहीं रहना चाहिए, वरन् क्रान्ति की सफलता के लिये हमें उनका विरोध करना चाहिए।"[१५]

इन सब सुझावों का साम्यवादी श्रम-संगठनों के कार्यकर्त्ताओं एवं नेताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने

अपनी पार्टी के आदेशानुसार कार्य प्रारम्भ किया। १९२९ ई० में पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में साम्यवादियों ने प्रयत्न करके अपने पक्ष में कई प्रस्ताव पारित करा लिये। अधिवेशन में शाही श्रम-आयोग से असहयोग करने तथा एटक को 'पानपैसिफिक ट्रेड यूनियन सेक्रेटेरिएट' से संबद्ध करने के प्रस्ताव पारित हुए। आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने यह भी निश्चय किया कि 'एसियाटिक लेबर कानफ्रेंस' और 'राउण्ड टेबुल कानफ्रेंस' से असहयोग किया जाय तथा आइ० एल० ओ० में भाग न लिया जाय।[१६] ये सभी प्रस्ताव नरम दल वालों के विरोध करने पर भी पारित हो गये। साम्यवादी दल भी यह अच्छी तरह जानता था कि नरम दल वाले नेताओं की इन प्रस्तावों में कोई आस्था नहीं है, अतएव उन्हें आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस से बाध्य होकर अलग होना ही पड़ेगा। पं० जवाहरलाल नेहरू ने, जिन्होंने इस अधिवेशन की अध्यक्षता की थी, इस संबंध में अपनी आत्मकथा में लिखा है कि 'इस संबंध में भी, जैसा कि अन्य मामलों में होता है, मेरी सहानुभूति वामपंथियों की ओर थी, विशेषतया यही नीति नेशनल कांग्रेस की भी थी। सरकारी आयोगों से सहयोग करना बड़ा गलत था, जबकि हम ब्रिटिश सरकार से सीधा संघर्ष करने के लिये प्रस्तुत थे।'[१७] इस प्रकार राष्ट्रीय दल ने इन प्रस्तावों को पारित करवाने में साम्यवादियों का साथ दिया। इस सम्मेलन के संबंध में पं० जवाहरलाल नेहरू ने कुछ और विस्तार के साथ अपनी आत्मकथा में इस प्रकार लिखा है—"श्रम-क्षेत्र में हाल ही में आने से और अपनी तरह विचार करने में मैं कुछ झिझक रहा था। सामान्यतया, मैंने अपना विचार विशेष प्रगतिशील दल के पक्ष में प्रकट किया, फिर भी किसी दल के साथ मिलकर कार्य नहीं किया और मैंने आदेश देने वाले अध्यक्ष की तरह कार्य न करके एक निष्पक्ष वक्ता की ही तरह कार्य किया। इस प्रकार एक दर्शक की भांति मैं ट्रेड यूनियन कांग्रेस की फूट को और एक नये नरम संगठन के निर्माण को देख रहा था। मुझे अनुभव हुआ कि दक्षिणपंथी व्यक्तियों का मूल संगठन से अलग होना न्यायसंगत नहीं था, फिर भी कुछ वामपंथी नेताओं ने उन्हें संस्था छोड़ने के लिये विवश कर दिया। सही नेतृत्व मिलने पर दोनों का मतभेद दूर हो सकता था और ट्रेड यूनियन कांग्रेस की एकता भंग होना रोका जा सकता था।"[१८]

नरम दल एटक से अलग हो गया और उसके साथ ३० श्रम-संघ, जिनकी सदस्य-संख्या ६५,६३६ थी, एटक से अलग हो गये। आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस में केवल २१ श्रम-संघ, जिनकी सदस्य संख्या ६२,७६७ थी, रह गये।[१९]

नरम दल वालों के अलग हो जाने पर एटक के श्री सुभाषचन्द्र बोस अध्यक्ष तथा श्री एस० वी० देशपाण्डे महासचिव निर्वाचित किये गये। नरम दल वालों ने अलग होकर नयी केन्द्रीय संस्था 'इण्डियन ट्रेड्स यूनियन फेडरेशन' का गठन किया, जिसमें अगले वर्ष २६ श्रम-संघ संबद्ध हुए और उनकी सदस्य-संख्या ५०,००० से ऊपर थी।

१९३० ई० में कम्युनिस्टों ने सेण्ट्रल रेलवे (तत्कालीन ग्रेट इण्डियन पेनिन्सुल रेलवे) कर्मचारियों की हड़ताल करा दी। हड़ताल पूर्णतया असफल रही और बहुत से कर्मचारियों को अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा। बम्बई तथा शोलापुर सूती मिल कर्मचारियों ने भी हड़ताल कर दी, जो असफल रही। साम्यवादी नेताओं ने कई स्थानों पर खुलकर नेशनल कांग्रेस के विरुद्ध कार्य करना प्रारंभ किया। इस प्रकार कांग्रेसी नेताओं के लिये यह संभव नहीं रह गया कि वे साम्यवादियों के साथ मिलकर कार्य कर सकें। १९३० ई० में आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस में फूट पड़ गयी। इसका श्रीगणेश बम्बई की 'गिरनी कामगार यूनियन' के विवाद से हुआ। आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस का ११वां अधिवेशन श्री सुभाषचन्द्र बोस के सभापतित्व में ३ से ७ जुलाई, १९३१ई० में हुआ। गिरनी कामगार यूनियन में दो दल हो गये थे। एक दल के नेता श्री एस० वी० देशपाण्डे तथा दूसरे के श्री खंडालकर थे। दोनों दल एटक की 'जनरल कौंसिल' में प्रतिनिधित्व के लिये अपना पक्ष रख रहे थे। एटक ने खंडालकर के दल को मान्यता दी, फलस्वरूप श्री एस० वी० देशपाण्डे तथा उनके समर्थकों ने 'रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस' नाम से एक अलग संस्था स्थापित की। इस संगठन में साम्यवादियों का बहुमत रहा। सुप्रसिद्ध श्रमिक-नेता श्री हरिहरनाथ शास्त्री ने रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना होने पर कहा था कि 'इन लोगों ने अपनी अदूरदर्शिता और घातक नीति के कारण

न केवल मजदूर जमायत से अपने को पृथक् कर लिया, बल्कि क्रान्तिवाद की ओर पिछले चार-पांच वर्ष में तेजी के साथ जाने वाले मजदूर आन्दोलन को भी गहरा धक्का पहुंचाया।'

शाही श्रम-आयोग श्री व्हिटले की अध्यक्षता में जुलाई १९२९ ई० में नियुक्त हुआ था। देश की श्रम-समस्याओं का विस्तृत अध्ययन कर उसने अपना प्रतिवेदन १४ मार्च, १९३१ ई० को प्रस्तुत किया। १९२९ ई० में 'ट्रेड डिसप्यूट ऐक्ट' भी पारित हुआ, जिसमें राज्य ने औद्योगिक विवादों को सुलझाने का उत्तरदायित्व सर्वप्रथम अपने ऊपर लिया और विवादों को निपटाने के लिये औद्योगिक न्यायालय, समझौता बोर्ड आदि प्रणाली अपनाने का आयोजन किया, जिसके फलस्वरूप १९३० ई०, १९३१ ई० तथा आगामी कुछ वर्षों में औद्योगिक विवादों में भाग लेने वाले कर्मचारियों की संख्या में तथा नष्ट श्रम-दिनों में कमी हुई।

१९३१ ई० में भारत में तीन केन्द्रीय श्रम-संगठन—इण्डियन ट्रेड्स यूनियन फेडरेशन, आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस और रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस—हो गये थे। बहुत से श्रम-संघ (यूनियनें) इन तीनों केन्द्रीय श्रम-संगठनों से संबद्ध नहीं थे। केन्द्रीय श्रम-संगठनों में एकता लाने के लिये श्रमिक-नेताओं ने प्रयत्न किये। श्री एन० एम० जोशी ने सर्वदल-सम्मेलन का सुझाव दिया। श्री चमनलाल निर्धारित समय के लिये विभिन्न केन्द्रीय श्रम-संगठनों के लिये एक कार्यक्रम बनाने के पक्ष में थे। १९३१ ई० में 'रेलवेमेन्स फेडरेशन' ने बम्बई में एक एकता-सम्मेलन आयोजित किया और १९३२ ई० में एक एकता-समिति भी स्थापित की। इस बीच सर्वश्री सुभाषचन्द्र बोस और रुईकर ने इण्डियन ट्रेड्स यूनियन फेडरेशन के मंत्री से एकता के संबंध में वार्ता भी की। एकता-समिति ने एक विधान भी बनाया। आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस और इण्डियन ट्रेड्स यूनियन फेडरेशन—दोनों के नेताओं को एकता के लिये आयोजित अधिवेशन में आमन्त्रित किया गया। इस प्रयास में सफलता प्राप्त नहीं हुई। इण्डियन ट्रेड्स यूनियन फेडरेशन से संबद्ध श्रम-संघों ने अप्रैल, १९३३ ई० में कलकत्ता के अधिवेशन में एक नये केन्द्रीय श्रम-संगठन 'नेशनल ट्रेड्स यूनियन फेडरेशन' की स्थापना की। इस नये केन्द्रीय संगठन की सदस्य-संख्या ४७ श्रम-संघों के साथ १,३५,००० पर पहुंच गयी।[१००]

इस बीच कई स्थानों पर महत्वपूर्ण हड़तालें भी हुईं। बम्बई के गोदी कर्मचारियों ने १९३२ ई० में हड़ताल की, जिसके परिणामस्वरूप उनके वेतन में २५ प्रतिशत वृद्धि हुई। एटक के १९३३ ई० के कानपुर अधिवेशन में श्रमिकों की आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं को लेकर देश और विदेश के विभिन्न महत्वपूर्ण प्रश्नों पर दर्जनों प्रस्ताव पारित किये गये। एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव यह था कि देशभर में सूती मिलों में व्यापक हड़ताल की तैयारी करने के उद्देश्य से बम्बई में जनवरी के अन्त में सूती वस्त्र-उद्योग-कर्मचारियों का महासम्मेलन बुलाया जाय।

इस निर्णय के अनुसार बम्बई में देश के सूती मिल मजदूरों का एक महासम्मेलन २८ जनवरी, १९३४ ई० को आयोजित किया गया। यह सम्मेलन बहुत ही महत्वपूर्ण था और देश के सभी सुप्रसिद्ध श्रमिक-प्रतिनिधि उसमें सम्मिलित हुए।

एटक के कानपुर अधिवेशन के निर्णय के अनुसार मार्च, १९३४ ई० में जबलपुर में एक सम्मेलन हुआ और भारतीय समाजवादी दल की स्थापना की गयी। इस दल का उद्देश्य पूंजीवाद का अन्त करना और उसके स्थान पर देश में समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना था, जिसमें देशवासियों के आर्थिक जीवन की बागडोर मजदूरों और किसानों की पंचायत के हाथ में हो। इस सम्मेलन को आयोजित करने में, सर्वश्री हरिहरनाथ शास्त्री, आर० एस० रुईकर, शिवनाथ बनर्जी आदि का बड़ा हाथ था।

१९३४ ई० में पूर्व-निर्णय के अनुसार अभिनवीकरण, छंटनी, वेतन में कटौती आदि के विरोध में बम्बई की सूती मिलों में आम हड़ताल हुई, किन्तु वह विफल रही। यह हड़ताल बम्बई के अतिरिक्त नागपुर और शोलापुर में भी हुई। हड़ताल की विफलता के वास्तविक कारणों का पता लगाने के लिये आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस की ओर से एक जांच समिति नियुक्त की गयी। समिति

ने मामले की पूरी जांच की, साक्ष्य (गवाहियां) लिये और फिर अपना प्रतिवेदन (रिपोर्ट) प्रकाशित किया। इस प्रतिवेदन से पता चलता है कि बम्बई की आम हड़ताल साम्यवादियों की हिंसात्मक नीति एवं श्रमिकों में फूट पैदा करने की घातक नीति के कारण विफल हुई।

२०, २१ और २२ अप्रैल, १९३५ ई० को आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस का चौदहवाँ वार्षिक अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। उस अधिवेशन में श्रमिक-आन्दोलन में एकता के प्रश्न पर पारस्परिक विचार-विमर्श होने वाला था, इसीलिये सभी श्रमिक-दलों के नेताओं को आमंत्रित किया गया था। वहाँ एकता-सम्मेलन हुआ, जिसमें सभी दलों के लोगों ने भाग लिया। अन्त में कई घंटों के संवाद के बाद रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस और आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस में समझौता हो गया। समझौते की शर्तें इस प्रकार थीं—(१) श्रेणी-संघर्ष का सिद्धान्त स्वीकार किया जाय, (२) रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस भंग कर दी जाय और एटक भारतीय श्रमिकों की केन्द्रीय संस्था रहे, (३) एक व्यवसाय में एक ही श्रम-संघ के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस की यूनियनों को एटक में सम्मिलित कर लिया जाय, (४) किसी विदेशी श्रम-संगठन से संबद्ध न हुआ जाय, (५) जेनेवा में होने वाले अन्तरराष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन में प्रतिनिधि भेजने के प्रश्न पर एटक प्रतिवर्ष विचार करे, (६) एटक के अन्तर्गत किसी भी समूह अथवा दल को प्रचार और आलोचना करने का अधिकार होगा, बशर्ते कि एटक का अनुशासन भंग न हो और एक दूसरे पर आक्षेप न हो। बहुमत के निर्णय को सभी संबंधित संस्थाओं को मानना होगा।

आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने राष्ट्रीय कांग्रेस की भाँति संयुक्त पार्लियामेंटरी कमीशन के प्रति, जिसमें देश में यत्किंचित् वैधानिक परिवर्तन की अनुशंसा थी, अपना विरोध प्रकट किया। मई, १९३६ ई० में बम्बई में एटक के १५वें अधिवेशन में, जिसकी सुश्री मनीबेन कारा अध्यक्षा थीं, कांग्रेस-अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू को विशेष रूप से आमंत्रित किया गया। श्री नेहरू ने कर्मचारियों की समस्याओं पर अपने विचार प्रकट किये, साथ ही कर्मचारियों के प्रति राष्ट्रीय कांग्रेस के समर्थन का भी आश्वासन दिया। इस समय तक मेरठ कान्सपिरेसी केस के संबंध में कारागार से छूट कर कम्युनिस्ट नेता भी वापस आ गये थे और अपने कार्य-कलाप में पुनः लग गये थे। उन्होंने 'किसान मजदूर राज्य' स्थापित करने के लिये आगामी लेनिन दिवस से आम हड़ताल करने के लिये अक्टूबर १९३५ ई० में इण्डियन नेशनल कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर अपील की।[१०१]

बम्बई सरकार ने कम्युनिस्ट पार्टी को अवैध घोषित किया, भारत सरकार ने भी २३ जुलाई, १९३४ ई० को भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी तथा उसकी शाखाओं को अवैध घोषित कर दिया। पंजाब सरकार ने कीर्ति किसान पार्टी, मद्रास सरकार ने 'यंग वर्कर्स लीग' को अवैध घोषित किया। बंगाल सरकार ने इस प्रकार के साम्यवादियों के प्रभाव में रहने वाले १३ संगठनों को अवैध घोषित कर दिया।[१०२]

शाही श्रम-आयोग ने अपने प्रतिवेदन में व्यवस्थापिका-सभाओं में श्रमिक-प्रतिनिधित्व की आवश्यकता पर बल देते हुए लिखा था कि 'श्रमिक-प्रतिनिधियों के रहने से एक तो श्रमिकों की भावनाओं व विचारों को व्यक्त करने का अच्छा अवसर रहेगा, साथ ही श्रमिक-प्रतिनिधि श्रम-संबंधी समस्याओं के सुलझाने के लिये तत्काल सुझाव भी रख सकेंगे। श्रमिकों का हित पूर्णतया श्रम-योजनाओं पर निर्भर नहीं रहता, वरन् उनकी भलाई पूरी नीति के झुकाव और विधान-निर्माण पर भी अवलंबित है। इस संबंध में इसकी सुरक्षा के लिये श्रमिकों के पर्याप्त प्रतिनिधित्व की नितान्त आवश्यकता है, जिससे संगठित श्रमिक देश के लिये महत्वपूर्ण योगदान कर सकें।'[१०३]

१९३५ ई० में नया भारतीय विधान लागू हुआ, जिसके अनुसार प्रान्तीय सरकारों को स्वशासन प्रदान किया गया। श्रमिक-प्रतिनिधियों को राज्य-व्यवस्थापिका-सभाओं में निम्नांकित सारणी के अनुसार प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया[१०४]:—

प्रान्त	स्थान
बम्बई	७
बंगाल	८
मद्रास	६
यू० पी०	३
पंजाब	३
बिहार	३
सी० पी०	२
आसाम	४
उड़ीसा	१
सिन्ध	१

चतुर्थ चरण

१९३६ ई० में 'गवर्नमेंट आफ इण्डिया ऐक्ट' के अन्तर्गत देश भर में चुनाव हो जाने पर पंजाब और बंगाल प्रान्तों को छोड़कर सभी प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने। कांग्रेस के नेताओं के हाथ में शासन की बागडोर आने से सामान्य देशवासियों की ही भांति श्रमिकों एवं कर्मचारियों को भी अपनी स्थिति में परिवर्तन आने की बड़ी आशा हुई। १९३७ से १९३९ ई० तक पंजीकृत श्रम-संगठनों की संख्या तथा उनके सदस्यों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई, जैसा कि निम्न तालिका से प्रकट होता है :—

वर्ष	पंजीकृत श्रम-संघों की संख्या	सदस्य-संख्या
१९३६–३७	२७१	२,६१,०४७
१९३७–३८	४२०	३,९०,११२
१९३८–३९	५६२	३,९९,१५९

प्रथम कांग्रेस मंत्रिमंडल में सीमित अधिकार प्राप्त होने पर भी कांग्रेसी नेताओं ने श्रम-संघ-आन्दोलन की प्रगति में पर्याप्त योगदान किया। बहुत से औद्योगिक विवादों में श्रम-मंत्रियों के बीच में पड़ने से पारस्परिक समझौता भी हो गया। मद्रास के तत्कालीन श्रम-मंत्री श्री वाराह वैंकट गिरि ने 'क्रिमिनल प्रोसीजर कोड' की १४४वीं धारा का प्रयोग एक सेवायोजक के विरुद्ध कर उसे तालाबंदी समाप्त करने के लिये बाध्य किया।[७५]

श्रमिक-नेताओं ने आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस और नेशनल ट्रेड्स यूनियन फेडरेशन में एकता लाने की दिशा में प्रयत्न बराबर बनाये रखे। आन्दोलन में एकता लाने के लिये सर्वश्री एन० एम० जोशी, हरिहरनाथ शास्त्री, आर० एस० रुईकर, वी० शिवनाथ, और वाराह वैंकट गिरि ने मिलकर निम्नलिखित अनुरोध प्रकाशित किया : 'गत चार वर्षों से श्रमिक-आन्दोलन में विभिन्न दलों के बीच एकता स्थापित करने के लिये कई बार प्रयत्न हुए हैं, किन्तु मौलिक सिद्धान्तों पर आपस में मत-भेद होने के कारण समझौता न हो सका। इसके साथ ही जो लोग किसी न किसी दल से संबंध रखते हैं, उन्हें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस मतभेद के कारण श्रमिकों के हितों को बड़ा धक्का पहुँचा है और जब तक आपस में एकता नहीं हो जायेगी, उस समय तक श्रमिकों की हानि भी होती रहेगी। इन बातों को ध्यान में रखते हुए हमने यह निश्चय किया है कि यदि विभिन्न दलों को इस समय पूर्णतः एक दल में मिलाना संभव नहीं है, तो भी एक ऐसी संस्था बनायी जाय, जिससे आवश्यकता पड़ने पर, जब भी श्रमिकों के हितों पर आक्रमण हो, उस समय सम्मिलित होकर कोई कार्य किया जा सके। इसलिये हम अपने-अपने दलों को यह परामर्श देंगे कि प्रत्येक दल से दस प्रतिनिधि लेकर एक संयुक्त समिति बनायी जाय। यह समिति एक संयुक्त कार्यक्रम बनायेगी, जो सभी दलों के द्वारा स्वीकार किये जाने के बाद कार्य रूप में परिणत किया जायेगा। उक्त समिति के निर्णय मत-विभाजन द्वारा नहीं, बल्कि आपसी समझौते से किये जाया करेंगे। हमें आशा है कि इस प्रकार हम अधिक सफल हो सकेंगे। आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के मुख्य सचिव और नेशनल फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियन के मुख्य सचिव उक्त संयुक्त समिति के संयोजक रहेंगे।' इस अनुरोध के समर्थन में देश के विभिन्न स्थानों में श्रमिकों की आम सभाएँ की गयीं। इससे एकता के लिये

बहुत अच्छा वातावरण तैयार हुआ।

आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस तथा नेशनल ट्रेड्स यूनियन फेडरेशन का संयुक्त अधिवेशन १७ अप्रैल, १९३८ ई० को डा० सुरेशचन्द्र बनर्जी के सभापतित्व में नागपुर में हुआ जिसमें मुख्यतया निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किये गये :—

(१) नेशनल ट्रेड्स यूनियन फेडरेशन का विलीनीकरण एटक में कर दिया जाय।

(२) आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस नेशनल ट्रेड्स यूनियन फेडरेशन के विधान को स्वीकार करे।

(३) नेशनल ट्रेड्स यूनियन फेडरेशन की एटक से संबद्धता पहले केवल एक वर्ष के लिये रहेगी।

(४) आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस किसी विदेशी श्रम-संगठन से संबद्ध न हो।

(५) श्रम-संगठनों के सभी राजनीतिक तथा हड़ताल के प्रश्न 'जनरल कौंसिल' अथवा कार्यकारिणी के तीन चौथाई बहुमत से तय किये जायें।

नेशनल ट्रेड्स यूनियन फेडरेशन के विलीनीकरण के पश्चात् एटक की सदस्य-संख्या ३,९६,४५६ हो गयी और उससे १८८ श्रम-संघ संबद्ध रहे। इस प्रकार एटक की १९२९ ई० से चली आती हुई फूट ९ वर्षों के पश्चात् नागपुर में दूर हुई और १९३८ ई० में देश में पुनः एक केन्द्रीय श्रम-संगठन रह गया।

आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने अपने लक्ष्य एवं उद्देश्य इस प्रकार निर्धारित किये :—

(क) भारतवर्ष में समाजवादी राज्य की स्थापना करना,

(ख) उत्पादन के साधनों व वितरण का समाजीकरण एवं राष्ट्रीयकरण.

(ग) श्रमिक वर्ग की आर्थिक एवं सामाजिक दशाओं में सुधार करना,

(घ) श्रमिकों के नियोजन (नौकरी) संबंधी सभी मामलों में उनके हितों, अधिकारों तथा सुविधाओं पर दृष्टि रखना, संरक्षण करना तथा उनमें वृद्धि करना,

(ङ) श्रमिकों के लिये निम्नलिखित अधिकार प्राप्त करना और उनका संरक्षण करना:—

(१) विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता,
(२) समाचार-पत्र के प्रकाशन की स्वतंत्रता,
(३) संगठन बनाने की स्वतंत्रता,
(४) एकत्र होने की स्वतंत्रता,
(५) हड़ताल करने का अधिकार,
(६) काम करने और जीवन-निर्वाह का अधिकार।

(च) आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस से संबद्ध श्रम-संघों के कार्यों का संयुक्तीकरण,

(छ) वर्ण, जाति, कुल अथवा धर्म के आधार पर प्राप्त राजनीतिक अथवा आर्थिक सुविधाओं को समाप्त करना।

उपर्युक्त उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की पूर्ति के लिये आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस हर वैधानिक, शान्तिपूर्ण तथा प्रजातांत्रिक ढंग से प्रयत्न करेगी, जैसे कि विधान बनवाना, शिक्षा, प्रचार, बड़ी सभा, मध्यस्थता, प्रदर्शन और अन्त में हड़ताल के द्वारा और उसी प्रकार दूसरी प्रणालियों को भी अपनायेगी, जिन्हें आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस समय-समय पर निश्चित करेगी।

विभिन्न कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने कर्मचारियों की स्थिति की जांच करने के लिये समितियाँ भी बनायीं। बम्बई में सूती मिल कर्मचारियों की स्थिति के संबंध में जांच करने के लिये श्री जयरामदास दौलतराम की अध्यक्षता में एक समिति बैठायी गयी, जिसकी संस्तुतिओं के आधार पर बम्बई के सूती मिल कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि की गयी। कांग्रेस के प्रसिद्ध नेता डा० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में संयुक्त प्रान्त (यू० पी०) में एक समिति बैठायी गयी, जिसने सूती तथा ऊनी वस्त्र-उद्योग के कर्मचारियों की स्थिति के संबंध में पूरी छानबीन कर अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया।

बम्बई सरकार ने औद्योगिक विवादों को सुलझाने के लिये 'बम्बई इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट ऐक्ट' १९३८ में पारित किया। इस अधिनियम को बनाने का श्रेय 'टैक्सटाइल लेबर एसोसिएशन, अहमदाबाद' के भूतपूर्व मुख्य सचिव तथा बम्बई सरकार के तत्कालीन सभा-सचिव श्री गुलजारीलाल नन्दा को है। उन्होंने अहमदाबाद में प्राप्त अनुभवों के आधार पर इस अधिनियम को रूप दिया।

द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ जाने तथा भारत के युद्धोपयोगी सामानों के भेजने का मुख्य केन्द्र होने के कारण, इस बीच यहाँ बहुत से नये उद्योग धंधे खुले। युद्ध के कारण दैनिक उपयोग में आने वाली वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हुई, अतः कर्मचारियों ने मँहगाई भत्ते की मांग प्रारंभ की। सर्वप्रथम बम्बई के सूती मिल कर्मचारियों ने मँहगाई के प्रश्न पर अप्रैल, १९४० ई० में हड़ताल की। बम्बई सूती मिल कर्मचारियों की ही तरह अन्य स्थानों में भी मँहगाई भत्ते के लिये हड़तालें हुईं। निम्न तालिका से यह स्पष्ट होता है कि जीवन-निर्वाह-सूचकांक में इस बीच पहले की तुलना में पर्याप्त वृद्धि हो गयी थी।[१०६]

पतियों ने कर्मचारियों को लाभांश (बोनस) देना प्रारंभ भी कर दिया। किन्तु अधिकांश उद्योगपतियों ने कर्मचारियों को लाभांश देना न्यायसंगत नहीं समझा। सेवायोजकों का यह भी कहना था कि बोनस कर्मचारियों का अधिकार नहीं है, वरन् उन्हें दान के रूप में दिया जाता है। अन्त में न्यायालय द्वारा यह निर्णय हुआ कि बोनस वितरण दान नहीं है, वरन् जब तक कर्मचारियों को जीवन-निर्वाह-वेतन (लिविंग वेज स्टैंडर्ड) नहीं दिया जाता, तब तक उन्हें उद्योग में होने वाले लाभ का एक अंश मिलना चाहिए।

बोनस और मँहगाई भत्ते की मांग के फलस्वरूप औद्योगिक अशान्ति बढ़ने की संभावना थी, अतएव सरकार ने भारत-सुरक्षा-नियम की (८१अ) धारा के अन्तर्गत हड़तालों को रोकने की व्यवस्था की, जिससे द्वितीय महायुद्ध के समय उत्पादन पर कोई प्रभाव न पड़े और युद्ध में सामग्री आवश्यकतानुसार पहुंचायी जाती रहे। उसके अन्तर्गत हड़तालों पर रोक लगा दी गयी और विवाद उत्पन्न होने पर उसे अभिनिर्णय के लिये भेजने की व्यवस्था की गयी।

जीवन-निर्वाह-सूचकांक

	१९३९	१९४०	१९४१	१९४३	१९४४	१९४५
बम्बई	१००	१०७	११८	२१९	२२६	२२७
मद्रास	१००	१०९	११४	१८०	२०७	२२८
कानपुर	१००	१११	१८१	३०६	३१४	३०८

कर्मचारियों द्वारा मँहगाई भत्ते की बराबर मांग करने पर 'बम्बई मिल ओनर्स एसोसिएशन' ने वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि के अनुपात से मँहगाई भत्ता निर्धारित करने की एक प्रणाली बनायी। अहमदाबाद में भी मंहगाई भत्ता देने की इसी प्रकार की एक प्रणाली अपनायी गयी।

युद्ध के समय उद्योगों में पर्याप्त लाभ हो रहा था, किन्तु दूसरी ओर कर्मचारियों को अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में भी बड़ी कठिनाई होने लगी थी, अतः उन्होंने उद्योग में प्राप्त लाभ के एक अंश की 'बोनस' के रूप में मांग करना प्रारंभ कर दिया। कुछ प्रगतिशील उद्योग-

अभिनिर्णय के सरकारी विज्ञप्ति में प्रकाशित किये जाने पर उसे कार्यान्वित करना दोनों पक्षों के लिये अनिवार्य कर दिया गया। औद्योगिक विवादों को हल करने का यह नियम द्वितीय महायुद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी चालू रखा गया और अन्त में १९४७ ई० में 'इण्डस्ट्रियल डिसप्यूट ऐक्ट' पारित करके उसे स्थायी रूप प्रदान किया गया। इस बीच भी हड़तालों को सर्वथा समाप्त नहीं किया जा सका, यद्यपि बढ़े हुए उद्योगों की तुलना में हड़तालों की संख्या बहुत ही कम रही।

इस समय विवादों के अभिनिर्णय के दौरान पक्ष प्रस्तुत

करने (पैरवी) के लिये श्रम-संघों की आवश्यकता पड़ने लगी, परिणामस्वरूप देश के सभी भागों और उद्योगों में श्रम-संघों की संख्या में वृद्धि प्रारंभ हुई। शिक्षित वर्ग–लिपिक आदि–भी अपनी कठिनाइयों-शिकायतों को नियमित ढंग से हल करने के लिये श्रम-संघों के सदस्य बनने लगे। इस प्रकार बैंक, बीमा कम्पनियों, औद्योगिक संस्थानों तथा सरकारी विभागों में भी श्रम-संघों की संख्या बढ़ने लगी।

आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस का उन्नीसवाँ अधिवेशन ८ और ९ फरवरी, १९४२ ई० को कानपुर में हुआ। पं० जवाहरलाल नेहरू भी इस अधिवेशन में सम्मिलित हुए। अधिवेशन में द्वितीय महायुद्ध के संबंध में भी विचार करने के लिये दो प्रस्ताव आये। श्री बंकिम मुकर्जी ने अपने प्रस्ताव में बिना किसी शर्त अथवा प्रतिबंध के युद्ध में सहायता करने का विचार रखा था। दूसरे प्रस्ताव में श्री मृणालकान्ति बोस ने युद्ध में कर्मचारियों द्वारा सहायता प्रदान किये जाने के लिये अविलंब सत्ता-हस्तान्तरण को अनिवार्य बतलाया। दोनों में से किसी भी प्रस्ताव को अधिवेशन में तीन चौथाई बहुमत प्राप्त न हो सका, अतएव इस संबंध में आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस की प्रतिक्रिया प्रकट करने का कोई भी प्रस्ताव स्वीकार नहीं हुआ।

द्वितीय महायुद्ध के छिड़ जाने पर श्री मानवेन्द्र नाथ राय तथा उनके समर्थकों ने युद्ध को फासिस्टवाद के विरुद्ध समझ कर उसमें सहायता करने का निश्चय किया, किन्तु वे आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस को युद्ध में सहयोग देने के लिये प्रभावित न कर सके। अतएव उन्होंने नवम्बर १९४१ ई० में लाहौर में बैठक कर एक नयी केन्द्रीय संस्था 'इण्डियन फैडरेशन आफ लेबर' को जन्म दिया। श्री जमनादास मेहता इसके अध्यक्ष और श्री मानवेन्द्र नाथ राय इसके महासचिव चुने गये। इस नये संगठन में पंजाब, बंगाल तथा सिन्ध के बहुत से श्रम-संघ, जो अभी तक केन्द्रीय संगठन में सम्मिलित नहीं थे, संबद्ध होने लगे। इस संगठन का कार्य मुख्यतया युद्ध में सहायता करने के लिये प्रचार करना था और इस हेतु बैठकें करना, बुलेटिन, पत्रिका, पोस्टर का प्रकाशन आदि कार्य किया जाता था।

कम्युनिस्ट विचारधारा के श्रम-संघ-नेताओं ने युद्ध में किसी प्रकार की सहायता न देने का निश्चय किया था, किन्तु जब हिटलर ने जून, १९४१ ई० में सोवियत रूस पर आक्रमण किया तो उनकी नीति में परिवर्तन आ गया और उन्होंने युद्ध में अंग्रेजों की सहायता करने का निश्चय किया। राष्ट्रीय कांग्रेस ने युद्ध में सहायता करने के प्रश्न पर पूर्ण असहयोग करने का निश्चय किया था और वह अहिंसा एवं शांतिपूर्ण ढंग से ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध 'भारत छोड़ो' आन्दोलन चला रही थी। अहमदाबाद, जमशेदपुर आदि औद्योगिक केन्द्रों में भी इस आन्दोलन की सहानुभूति में हड़तालें हुईं। कांग्रेस कार्यकर्त्ता जो श्रम-संगठनों का नेतृत्व एवं संचालन करते थे, बन्दी बना कर जेल भेज दिये गये। इस प्रकार १९४२ ई० से आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर कम्युनिस्टों का एकाधिकार हो गया।

१९४२ ई० में सरकार ने 'इण्डियन फेडरेशन आफ लेबर' को प्रतिनिधि-संगठन के रूप में स्वीकार किया। रचनात्मक कार्यों के अभाव तथा अन्यान्य कारणों से यह केन्द्रीय श्रम-संगठन अपना अस्तित्व स्थिर न रख सका और दिसम्बर, १९४८ ई० में इसे एच० एम० एस० में अपने को विलीन कर देना पड़ा।

युद्ध समाप्त होने के पश्चात् वस्तुओं के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होने के कारण कर्मचारियों का जीवन-निर्वाह-सूचकांक बढ़ता गया और १९३९ ई० में १०० का आधार मानने से वास्तविक आय का सूचकांक १९४६ ई० में ७३.२ तथा १९४७ में ७८.४ हो गया।[७७]

इससे कर्मचारियों में असन्तोष बढ़ता रहा और समय-समय पर हड़तालें, कार्यबन्दी आदि भी होती रहीं। श्रम-संगठनों की संख्या में भी इस समय पर्याप्त वृद्धि हुई। १९४५-४६ ई० में श्रम-संघों की संख्या १,००७ तथा उनके सदस्यों की संख्या ८,६४,०३१ थी, जिनकी संख्या बढ़कर १९४६-४७ में क्रमशः १,२२५ और १३,३१,९६२ हो गयी।

आइ० एल० ओ० में प्रतिनिधि भेजने के प्रश्न पर आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस और इण्डियन फेडरेशन आफ

लेबर में प्रतिद्वन्द्विता हुई। सरकार ने १९४४ ई० में निश्चय किया कि दोनों केन्द्रीय संगठनों के प्रतिनिधि बारी-बारी से आइ० एल० ओ० में भाग लें। फलस्वरूप १९४४ ई० में फेडरेशन के प्रतिनिधि तथा १९४५ ई० में एटक के प्रतिनिधि सम्मेलन में सम्मिलित हुए। १९४६ ई० में आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने सरकार से दोनों संगठनों की सदस्यता की जांच के लिये प्रार्थना की। सरकारी पुनरीक्षण के अनुसार आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस की कुल सदस्य-संख्या ६,९६,५५५ तथा इण्डियन फेडरेशन आफ लेबर की कुल सदस्य-संख्या ३,१३,८०७ पायी गयी।[९८] परिणामस्वरूप प्रतिनिधि संस्था होने के कारण एटक के प्रतिनिधियों को आइ० एल० ओ० के लिये मनोनीत किया जाने लगा।

आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस का २१वाँ अधिवेशन १८ से २३ जनवरी, १९४५ ई० में मद्रास में हुआ। श्री श्रीपाद अमृत डांगे की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष श्री फजल इलाही ने अधिवेशन की अध्यक्षता की। श्री वाराह वेंकट गिरि द्वारा प्रस्तुत राष्ट्रीय स्वतंत्रता की मांग संबंधी प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया तथा कांग्रेस के नेताओं को कारागार से मुक्त करने के संबंध में प्रस्ताव पारित किया गया। इस अधिवेशन के समय एटक की सदस्यता ४,५१,६१५ थी।

फरवरी, १९४५ ई० में 'वर्ल्ड ट्रेड यूनियन फेडरेशन' का अधिवेशन लन्दन में आयोजित किया गया था, जिसमें आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस की ओर से सर्वश्री श्रीपाद अमृत डांगे, आर० एस० खडगिकर तथा सुधीन्द्र प्रामाणिक सम्मिलित हुए थे। सितम्बर-अक्टूबर १९४५ ई० में 'वर्ल्ड फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियन' का विधान स्वीकृत किया गया और तब से एटक इस संस्था से संबद्ध है।

अधिक वेतन तथा भत्ते की मांग के प्रश्न पर १० जुलाई १९४६ ई० से डाक-तार विभाग में हड़ताल हो गयी। सरकार से तीन सप्ताह पश्चात् आश्वासन प्राप्त होने पर हड़ताल समाप्त कर दी गयी। यू० पी० में प्राथमिक पाठशाला के अध्यापकों ने भी हड़ताल की और अन्त में सरकार द्वारा निम्नतम वेतन निर्धारित करने पर हड़ताल समाप्त कर दी गयी। इसके अतिरिक्त कराची में गोदी कर्मचारियों, लाहौर में विद्युत् कर्मचारियों तथा मद्रास में सूती मिल कर्मचारियों ने हड़ताल की। बम्बई, नागपुर, इलाहाबाद में भी हड़तालें हुईं। सरकारी कर्मचारियों में भी वेतन तथा महँगाई भत्ते की वृद्धि की मांग पर असन्तोष बढ़ रहा था। सरकार ने कर्मचारियों के वेतन, भत्ते, छुट्टी आदि के प्रश्नों पर विचार करने के लिये श्री श्रीनिवासवरदाचार्य की अध्यक्षता में १० मई, १९४६ ई० को एक वेतन-आयोग नियुक्त किया, जिसने अपना प्रतिवेदन ५ मई, १९४७ ई० को प्रस्तुत किया। वेतन-आयोग की अधिकांश संस्तुतियों को सरकार ने १९४७ ई० से लागू कर दिया।

(क्रमशः)

संदर्भ :

८८. इण्डियन ट्रेड यूनियन्स—ए सर्वे, पृ० २५
८९. वही, पृ० २९
९०. ट्रेड यूनियनिज्म इन इण्डिया, पृ० २९६, २९८
९१. वही, पृ० ९१ ९२. वही, पृ० ७१
९३. वही, पृ० ४६
९४. कम्यूनिज्म इन इण्डिया, पृ० १४०
९५. वही, पृ० १४५
९६. ट्रेड यूनियनिज्म इन इण्डिया, पृ० ३२६
९७. ऑटोबाइग्राफी आफ जवाहरलाल नेहरू, पृ०१९८
९८. वही, पृ० १९९
९९. ट्रेड यूनियनिज्म इन इण्डिया, पृ० ३२६
१००. वही, पृ० ३३१
१०१. अवर डिफरेंसेज, पृ० १७७
१०२. इण्डियन ट्रेड यूनियन्स—ए सर्वे, पृ० ६८
१०३. रिपोर्ट—रॉयल कमीशन आफ लेबर, पृ० ४९२
१०४. ट्रेड यूनियन मूवमेंट इन इण्डिया, पृ० २२४
१०५. इण्डियन ट्रेड यूनियन्स—ए सर्वे, पृ० ९१
१०६. ट्रेड यूनियन मूवमेण्ट इन इण्डिया, पृ० ३८
१०७. ट्रेड यूनियन मूवमेण्ट इन इण्डिया, पृ० ४८
१०८. ट्रेड यूनियनिज्म इन इण्डिया, पृ० ३४३

डा० चन्द्रशेखर

मध्ययुगीन संक्रांति-बिंदु : श्री गुरु अमरदास का क्रांति-दर्शन

भारतीय चिंतन न केवल अपनी मूल संकल्पना में ही, अपितु अपने संपूर्ण विस्तार में गणतंत्रात्मक रहा है। चिन्तन-मनन का तो यह सर्वोपरि गणतन्त्र है। स्वतंत्र चिंतन और उसकी स्वतंत्र अभिव्यक्ति की जितनी स्वायत्तता भारतीय धर्मसाधना में रही है, उतनी विश्व की किसी भी धर्मसाधना में नहीं मिलती । यहाँ न तो कभी स्वतंत्र चिंतन को प्रतिबंधित किया गया, और न चिंतन की मौलिक अभिव्यक्ति को ही निषिद्ध किया गया है। यही कारण है कि भारतीय मनीषा से चिंतन की असंख्य निरंतर प्रवहमान धाराएं फूटी हैं। यहाँ चिंतन कभी रुद्ध नहीं हुआ है। एक-एक चिंतन-धारा ने अनेक आंदोलनों को जन्माया है। हमारे मन को सप्रश्न बनाकर उसे जीवंत चिंतन की नित्य प्रक्रिया से जोड़ दिया गया है। हमारे ऋषि-मुनि प्रश्नों की अग्नि-शलाकाएं लेकर अंधकारपूर्ण दिशाओं की यात्रा में निकले हैं। उन्होंने चिंतन के असंख्य ज्योति-कलश हमें दिये हैं। हम नचिकेता-पुत्र उन्हें थाम कर पुनः अपने मौलिक प्रश्नों के मौलिक उत्तर पाने के लिये आगे बढ़े हैं। यह प्रक्रिया यहाँ अजस्र रूप में गतिमान रही है। न तो हमने किसी व्यक्ति को अंतिम चिंतक मान कर व्यक्तित्व-विकास की दिशाओं को बंद किया है और न किसी पुस्तक को ही एकमात्र अंतिम रचना मानकर स्वतंत्र चिंतन और उसकी स्वतंत्र अभिव्यक्ति को ही प्रतिबंधित किया है। जब भी यहाँ जनघाती, सत्ताकामी काली शक्तियों ने चिंतन की इस आग्नेय परंपरा को कोई अवरोध दिया है, वे स्वयं ध्वस्त हुई हैं। जब भी यहाँ सप्रश्नता निषिद्ध हुई है, प्रश्न वर्जित हुए हैं, उत्तरों की खोज दण्डित हुई है, तब-तब यहाँ पर असंभवों के लौह-स्तंभ चीरकर जनवादी शक्तियों के नृसिंह अवतरित हुए हैं, मानवद्रोही प्रतिगामी शक्तियाँ विध्वस्त हुई हैं। इसलिये भारतीय चिंतन अपने संपूर्ण आचरण और समग्र व्यवहार में विशुद्ध गणतंत्रात्मक है।

भारतीय चिंतन अपने गणतंत्रमूलक व्यवहार में सदा संकल्पित रहा है- मानवमंगल से, जन-कल्याण से। वह अपने तीव्रतम सरोकार में मानव के सहज मानवीय अधिकारों का घोषणापत्र है। सर्वोदय, सर्वसुख, बहु-

जनहित का वह एक गहन गंभीर, घनघोर शंखनाद है।

जिस विशद और उदात्त धरातल पर हम श्री गुरु अमरदास जी के सामाजिक संकल्प और क्रांतिदर्शन की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं, मैं चाहूँगा कि पहले उस धरातल की मिट्टी, उसकी गंध और जीवंत चेतना की परीक्षा कर ली जाय। यह विषयांतर नहीं, प्रत्युत् मूल विषय की मौलिक मुद्रा को उसकी प्रामाणिकता सहित पकड़ने का प्रयास है। अस्तु।

गणतन्त्र की पौराणिक संकल्पना

भारतीय चिंतन विश्वदर्शन के इतिहास में सर्वोपरि ही नहीं, प्राचीनतम गणवादी दर्शन भी है। हमारे यहाँ गण की परिकल्पना प्लेटो से भी शताब्दियों पूर्व हो गयी थी। इतना ही नहीं, वह गण-परिकल्पना जन-जन के व्यवहार और दैनंदिन आचरण में भी रूपांतरित हो चुकी थी। ईश्वर में ही गण और गण में ही ईश्वर-दर्शन प्रतिष्ठा पा चुका था।[१] राज्य की सर्वोच्च शक्ति किसी व्यक्ति में नहीं, प्रत्युत् गणमूलक संसद में थी।[२]

जो पुराने हैं, वे "पुराण" हैं—ऐसी मिथ्या और भ्रामक धारणा प्रचार पाती रही है। वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। पुरा..न—जो पुराने नहीं पड़ते हैं और जो पुराने होने पर भी नित्य नवीन हैं, वे ही पुराण हैं।[३] पुराण भारतीय इतिहास की अमर लोक-संपदा और अक्षय जनवादी शक्ति हैं। उनमें तथ्यपरक इतिहास भले ही कम हो, वह अपनी मूल संकल्पना में आस्था के अक्षरों से श्रद्धा के पृष्ठों पर लिखा गया इतिहास है। ऐसा इतिहास, जो पुस्तकों में बंदी न होकर शतद्रु और विपाशा की भांति, गंगा और यमुना की भांति यहां के कण-कण को सींचता है, जो अतीत का होकर भी हमारे वर्तमान में उपस्थित रहता है। ऐसा इतिहास, जिसे हम जीते हैं, जिससे जीवन की दिशा लेते हैं। उस इतिहास में हमारे सनातन सत्य और शाश्वत मूल्यबीज हैं।

पुराणों में गणवाद की परिकल्पना एक अतीव प्रखर और प्रतीकात्मक आख्यान के रूप में उपलब्ध है। पार्वती—पर्वत की पुत्री—इस भूमि और जन-जन के जीवन का यथार्थ है। वह अपने उबटन से—एक अर्थ में अपने प्रामाणिक अनुभव और सामान्यजन के यथार्थ से—एक प्रतिमा की रचना करती हैं। भगवान शिव—लोकमंगल के प्रतीक—उसका संशोधन कर उसकी गणपति के रूप में प्रतिष्ठा करते हैं। वह गणपति कोई व्यक्ति नहीं, प्रत्युत् एक विधान है, एक गुणसंहिता है—कैसा हो गणपति? गणनायक में कौन सी विशिष्टताएं हों? गणाधिपति का स्वरूप कैसा हो? इन और ऐसे ही कुछ प्रश्नों के उत्तर मिलते हैं गणेश की परिकल्पना में।

कैसा है हमारा गणनायक? मानव-स्कंध पर हाथी का शीश। कैसा विचित्र सामंजस्य है! कितनी प्रखर प्रतीक-चेतना है इसमें!! गणेश की लंबी सूंड, भूमि—जन-जन के यथार्थ की भूमि का बराबर स्पर्श करती और सूंघती हुई सूंड। बड़े-बड़े कान—चतुर्दिक सतर्कता, चौकन्नापन। एक दांत और वह भी खंडित—अर्थात् इतनी सैन्यशक्ति जो केवल आत्मरक्षा के लिये ही पर्याप्त हो। दो दांत नहीं, वे राज्य-विस्तार, सीमा-विस्तार की मानवघाती प्रवृत्ति के सूचक होते हैं। उनसे पड़ोसी राष्ट्र आतंकित हो सकते हैं। इसीलिये मात्र एक दांत और वह भी खंडित। इतनी सैन्य शक्ति जो शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के मानवीय आधार पर प्रहार न करे। बड़ा पेट—अनुभवशीलता का प्रतीक। हाथों में शस्त्रास्त्र भी हैं और कमल-पुष्प भी। शस्त्र मानव-रक्तपात के लिये नहीं, प्रत्युत् जीवन के सौन्दर्य की रक्षा के लिये। और यह मूषक महाराज? गणेशवाहन—अर्थात् ऐसा चिंतन जो एक ओर जन-जन के यथार्थ से, धरती की वास्तविकता से जुड़ा हो और दूसरी ओर अतीव प्रखर हो, पैना और अकाट्य हो। मूषक इसी प्रखरता का द्योतक है। परन्तु यह चिन्तन शीतल और संतुलित भी हो, इसीलिये गणेश भाल-चन्द्र भी हैं—माथे पर चन्द्र सुशोभित है। वे श्वेत ध्वजधारी हैं। श्वेत केतु विश्वशांति, अयुद्ध और निर्वैर नीति का प्रतीक है। अंत में मोदक-मिष्टान्न—ऐसे गणपति से समाज के प्रत्येक घटक में वितरित होने वाला सुख, आनंद है।

हमारा गणेनायक ईश्वर-पुत्र है

ऐसा गणनायक ही समाज में मंगल-विधान कर सकता है। इसीलिये उसे ईश्वर-पुत्र माना गया है।[४]

वह प्रत्येक अनुष्ठान में प्रथम पूजा का अधिकारी है। वह सदा-सर्वदा मंगलकर, सुखकर, कल्याणकर है। गणेशपूजन का यही सूक्ष्म-गंभीर धरातल है। मैं कहना चाहूंगा कि भारतीय संस्कार, विश्वास और आचरण अपने सर्वांग में गणनायक की संकल्पना-परिकल्पना से दीक्षित हो चुका है। गणेश से संबद्ध यहां कितना पूजन होता है! महाराष्ट्र में तो प्रत्येक व्यक्ति गणपति की मूर्तिरचना करता है और एक पवित्र मुहूर्त में उसे सागर में विसर्जित करता है। अन्ततः यह सब क्या है? गणपति के चयन-निर्वाचन में प्रत्येक घटक का योगदान रहता है और अंशतः यह गणपति समाज के सागर को ही समर्पित होता है। उसे समाज में ही विलीन होना पड़ता है। समाज के ऊपर, अलग, अतिरिक्त उसकी कोई इयत्ता नहीं।

यह है हमारे गणराज्य, गणनायक का स्वरूप। उसका समतावादी, मानवतावादी, जन-जन से संकल्पित, प्रतिबद्ध और प्रतिश्रुत स्वरूप।[५]

पंजाब की भूमि से गणवाद का जन्म

यह गौरव की बात है कि पंजाब की भूमि से राष्ट्र की गणतंत्रमूलक परिकल्पना का चरित्र निर्मित हुआ था। इसी धरती से शतद्रु और विपाशा के तटों से मंत्रद्रष्टा मनीषियों ने वेदमंत्र-गायन से, अनुष्टुप और गायत्री-गायन से पवित्र ऋचाओं द्वारा विश्व को गणराज्य की रूपरेखा प्रदान की थी और इसी पावन धरती से महान क्रान्तिद्रष्टा गुरु श्री नानक ने सनातन मानव-मूल्यों का पुनः शंखनाद किया।

संक्रमणों के विषपायी श्री गुरु नानक का मृत्युञ्जयी जीवनदर्शन

श्री गुरु नानक महामृत्युंजय थे। कालजेता विषपायी थे। कैसा विष? युग-संक्रमण का विष। जिस काल-बिन्दु पर उनका अवतरण हुआ था, वह कितना भयावह था!! चारों ओर मूल्यविघटन और धुरीहीन हो रहा समाज। ध्वस्त हो रही उसकी मान-मान्यताएं। खंडित संकल्प, खंडित विश्वास। धर्म के नाम पर दंभ और पाखंडपूर्ण आचरण। बर्बर, अमानुषिक शासन, रक्तपात और अग्निकांड, बलात्कार और व्यभिचार। आक्रांताओं के निरंतर आक्रमण-पदाक्रमण। संपूर्ण संस्खलन का एक आग्नेय धरातल। ऐसा भयंकर युद्धपूर्व आतंक, युद्धकालीन विनाश और युद्धोत्तर संत्रास—युद्ध के ये तीनों आयाम पंजाब में बराबर शताब्दियों तक एक साथ फैले रहे। विश्व के इतिहास में शायद ही कहीं युद्ध के ये तीनों आयाम इतनी भयंकरता से इतने दीर्घकाल तक फैले हों। यूरोप के दो महायुद्धों के पूर्व और उत्तरवर्ती आयाम अधिक से अधिक पचास वर्ष तक फैले हैं। इनके संपर्देश से यूरोप कितना ध्वस्त हुआ है! परंतु पंजाब में तो ऐसे नागदंश कई सौ वर्षों तक होते रहे हैं। यहां का मध्ययुगीन संत्रास यूरोप के महायुद्ध-जन्य संत्रास से कहीं अधिक विषाक्त और विध्वंसक था। कई शताब्दियां मृत्यु-मूर्च्छा में संज्ञाशून्य हो रही थीं। मूल्य-संकरता की यह विद्रूपता भारतीय समाज को 'डायलिसिस' पर लटका जाती है।

सहज मानव का अन्वेषण

इस चकाकार संक्रमण-बिन्दु पर गुरु श्री नानक अमृतघट के रूप में उदित होते हैं। विश्व-कल्याण के लिये, जलंदे जगत् के त्राण के लिये वे विषपान कर स्वयं नीलकंठ महादेव—साक्षात् शिव, प्रत्यक्ष हलाहलपायी बन जाते हैं। इसी अर्थ में वे मृत्युंजय हैं। उनकी समस्त साधना, संकल्प, प्रतिज्ञाएं—मूल्यहीनता के दिगंतव्यापी अंधकार को चुनौती देती हैं। उनका सामाजिक क्रांति का अभियान इन्हीं दिशाओं में है। एक सहज मानव की खोज। उसकी मानवता का अन्वेषण। एक सहज मानव की उसकी सहज मानवता सहित प्रतिष्ठा।

तिलक-नारियल-मंगलमौली और गुड़ : भारतीय दर्शन का दाय-अनुदाय

भाई लहणे को अंगद रूप देकर श्री गुरु नानक ज्योति-लीन हो जाते हैं। गुरु नानक के संकल्प से उद्भूत गुरु श्री अंगद को दाय के रूप में मिलता है: माथे पर टीका, झोली में लाल वस्त्र और मंगलमौलियों-मंगलसूत्रों से लिपटा एक नारियल और साथ में गुड़-पेशियां। नारियल—

भारतीय दर्शन-चिंतन का सहज सुरक्षित सनातन रूप—ऐसा रूप जो एक ओर लोकमंगल से प्रेरित और जनकल्याण के प्रति समर्पित हो और दूसरी ओर मधुर-मीठा हो। सहिष्णुता, भाईचारे और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का निमित्त हो। इसी धरातल पर गुरु श्री नानक का क्रांतिदर्शन लोकमंगल का अभियान-विस्तार पाता है। यह अभियान निविड़ अंधकार से निरंतर युद्ध था। श्री गुरु अंगद देव ने इसी संकल्प का जयघोष किया। इसी भूमिका में श्री गुरु अमरदास का आगमन होता है।

दुष्ट शक्तियों को चुनौती : रक्त से हस्ताक्षर

गुरु श्री नानक ने ज्वालामुखी शृंगों पर खड़े होकर आग बरसा रहे बादलों पर प्रहार किया था। दुष्ट, जनघाती शक्ति, व्यवस्था, शासन और प्रबंध पर आक्रमण किया था। यह एक समारंभ था। ऐसा ऐतिहासिक समारंभ जो उत्तरोत्तर सामाजिक धरातल पर अपने दायित्व का निर्वाह करने के लिये अपने रक्त से हस्ताक्षर करता आया है, अपने मुंडों की लिपि से उसको सत्यापित करता आया है। श्री गुरु अमरदास जी के युगपरिवेश में दुष्ट शक्तियाँ देश में स्थापित हो चुकी थीं। भारतीय समाज अपनी सांस्कृतिक अपराजेयता में भी राजनीतिक स्तर पर बुरी तरह पराजित हो चुका था। इस पराजय-भावना से वह भीतर ही भीतर बुरी तरह विभाजित हो रहा था। दुर्दम शासन-सत्ता के आगे वह आत्मसमर्पण करता जा रहा था और सामाजिक आरक्षण के लिये अपने घर के द्वार, खिड़कियाँ बंद करता जा रहा था। क्षियमाण मूल्य एवं जड़ विश्वास और भी अधिक घातक बनते जा रहे थे।

सामाजिक क्रांति : दो मुख्य आयाम

श्री गुरु नानक और उन्हीं की पावन ज्योति श्री गुरु अमरदास के सामाजिक संकल्प की मुख्यतः दो दिशाएं थीं :

एक—भारतीय समाज के भीतरी विघटन पर सनातन मूल्यों की सेतु-रचना। उसे नवजीवन, नवशक्ति, नवचेतना से संपन्न बनाना।

दो—आक्रान्ता विदेशी समाज के अपराजेय और शासक रूप के समक्ष भारतीय समाज को पूर्ण आत्मगौरव से प्रस्तुत करना और दोनों समाजों में सहअस्तित्व और सहिष्णुता के सौहार्दपूर्ण संबंध स्थापित करना।

इन दोनों दिशाओं में श्री गुरु अमरदास ने एक सहज, सरल, निश्छल मानव की ही खोज की है। एक सनातन मानवता का धरातल उपस्थित किया है। ऐसा धरातल जो गणतंत्रमूलक भी है और सम्प्रदाय-निरपेक्ष भी; जो अपने समय की सत्ता-शक्ति से प्रत्यक्षतः तटस्थ है, परन्तु उसके हस्तक्षेप के विरोध में है; जो विदेशी युग-सिंहासन की नीतियों, योजनाओं का समर्थक नहीं और न शासन के अमानवीय आचरण का पक्षधर ही है; जो अपने सामाजिक क्रांति के अभियान को अधिकाधिक मानवतावादी और प्रगतिशील बनाता है; जो अपने समाज से एकात्म होकर, सबके साथ मिलकर, ऐसे अमृत-कुंडों की खोज करता है जो हमारे सामाजिक शरीर की शिरा-शिरा में, पोर-पोर में नव रक्त का संचार करें।

संपूर्ण क्रांति का धरातल : अविरोध की भूमिका

श्री गुरु नानक के क्रांतिसंकल्प की धुरी लोकमानस से जुड़ी थी। एक बात वे भली भांति जान गये थे कि गोरख और कबीर के क्रूर, प्रखर खंडन से जनमानस को आडंबरों से मुक्त नहीं किया जा सकता। तर्क में मनोवैज्ञानिक पकड़ होनी चाहिए, तभी वह जन-जन में पाखंडों, मिथ्याचरणों के प्रति वितृष्णा जगा सकता है। गोरख और कबीर के प्रखर प्रहारों ने समाज में प्रतिक्रिया जगायी और कुछ लोग अपने अंधविश्वासों के प्रति और कट्टर हो गये। इसी बिन्दु पर श्री गुरु नानक अपने पूर्ववर्ती क्रांति-द्रष्टाओं से प्रस्थान लेते हैं। अपनी संपूर्ण उदासियों में वे जहाँ भी गये, वहाँ के धर्म-ध्वजियों से एक आत्मीयतापूर्ण संवाद स्थापित किया, शास्त्रार्थ नहीं किया। उनसे ऐसे प्रश्न किये, जिनके उत्तरों की खोज में वे अपने मिथ्याचरण से मुक्त होते गये। वे प्रतिक्रिया में आकर और कट्टर नहीं हुए। अनेक विषम विरोध भरी परिस्थितियों में भी श्री नानक ने अपनी आत्मीयता का आसन बिछाया। अपने दृष्टांत-

मूलक, संयत, संतुलित और सहज-शीतल व्यवहार से विरोधियों को परास्त किया।

श्री गुरु अमरदास ने उपर्युक्त दोनों दिशाओं में इसी नीति का अनुसरण किया। वे लोकमानस के गंभीर अध्येता थे। उनकी एकनिष्ठ अनन्य गुरुसेवा सिख इतिहास में स्पृहणीय है। वे साक्षात् सेवापुंज थे[५], इसीलिये उनका क्रांतिदर्शन विध्वंस, विनाश, विवंडावाद से सर्वथा अलग था। श्रम, सेवा, शांति, सहिष्णुता, श्रद्धा, प्रेम, क्षमा, उदारता—ऐसे विशद मानव-मूल्यों से उनका समाज-दर्शन रूपरेखा ग्रहण करता है। उन्होंने समाज की अनेक कुप्रथाओं, क्रियमाण जड़ मान्यताओं, अंधविश्वासों के विरुद्ध जन-जन में जागरण का शंख फूंका, परन्तु कहीं भी विरोधी स्थिति में नहीं आये। सब के साथ एकरूप होकर सब में आडम्बरपूर्ण आचरण के प्रति एक सरोकार जगाया। व्यक्ति को स्वयं अपने में हस्तक्षेप करने के लिये प्रेरित किया। आपने स्वयं किसी में भी अयाचित हस्तक्षेप नहीं किया। यही है सहज क्रांति का वह धरातल, जो मानव को उत्तरोत्तर एक सामाजिक परिवर्तन के लिये मानसिक रूप से तैयार करता है। इसी धरातल पर समाज का प्रत्येक घटक आत्मचेता, आत्मपरीक्षक बनता है और पाखंड-आडंबर के पंक से उबर कर सहज मुक्ति की ओर अग्रसर होता है। आज के अर्थ से अलग यही संपूर्ण क्रांति की एक सहज प्रक्रिया है। क्रांतिदर्शन की इसी प्रक्रिया से श्री गुरु अमरदास बराबर संकल्पित रहे।

विभाजित समाज : पंक्तिबद्धता का संयोजन—वर्गहीन समाज-रचना की ओर

जर्जर, विभाजित और विघटित भारतीय समाज में पंक्तिबद्धता लाने के उद्देश्य से गुरु अमरदास जी ने लंगर प्रथा का संपोषण किया। एक साथ उठने-बैठने, खाने-पीने से समाज के विभिन्न घटक एक सहज आत्मीयता के धरातल पर संघटित होते हैं। उनमें सहज और एक समान आचरण आता है। इसीलिये हमारे ऋषिचिंतन ने इस मनोवैज्ञानिक संघटन-भूमिका की रचना की थी।[७] इसी धरातल पर गुरु श्री अमरदास ने सहभोज, सामूहिक भोज के समायोजन से गलित-दलित भारतीय समाज के विविध वर्गों में समन्वय और सामजस्य की भावना जगायी। एक ऐसे वर्गहीन समाज की नींवरचना में योगदान किया, जहाँ सब एक समान हैं, सभी में एक ही ईश्वरीय प्रकाश है, सभी ईश्वर-पुत्र हैं, एक ही पिता की अमृत संतान हैं। गुरु श्री ने सहभोज को अपने शिष्य-समाज के दैनिक आचरण का अनुशासन घोषित किया। गुरु-दर्शन से पूर्व लंगर में सहभोज करना अनिवार्य बना दिया गया। लंगर ही एक ऐसी मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला बन गयी, जहाँ बड़े-बड़े शहनशाह, राजे-महाराजे अपने मिथ्या गौरव-गर्व से मुक्त होकर सभी के साथ एक पंक्ति और एक ही आसन पर आकर बैठ गये।[८] लंगर में संगत-पंगत के माध्यम से एक नयी समता-भावना का जन्म हुआ, जिसने सहज मानवतावाद की संरचना में योग दिया और भारतीय समाज के भीतरी विघटन को भी दूर किया।

शासन के अनुदान का अस्वीकार : सिंहासन-धर्म के विरोध में

श्री गुरु नानक ने अतीव आक्रोशपूर्ण स्वर में अपने समय की जनहंता शासन-सत्ता की भर्त्सना की थी। उसके सर्वथा अमानवीय आचरण पर प्रहार किये थे। श्री गुरु अमरदास भी एक ऐसे समाज की संरचना में विश्वास रखते थे, जिसमें शासन-सत्ता का कोई भी हस्तक्षेप न हो। सरकारी अनुदान से कोई भी क्रांतिदर्शन भ्रष्ट हो जायेगा। वह अपनी स्वतंत्र सामाजिक भूमिका से पतित होकर सिंहासन और जनता के मध्य बिचौलिये की घृणित भूमिका में स्थानांतरित हो जायेगा। शासनतंत्र, सिंहासन, राज्यशक्ति की पक्षधरता से कोई भी सामाजिक आंदोलन नपुंसक हो जाता है। सरकारी अन्न सत्ता का सूत्र-समर्थन मांगता है, अपनी मानवघाती नीतियों का भी समर्थन चाहता है। इसीलिये श्री गुरु अमरदास ने अतीव दूरदर्शिता का परिचय देते हुए शासन-सत्ता के अनुदान को अस्वीकार कर दिया था।[९] इस नीति के बड़े स्वस्थ परिणाम निकले। यह नवीन मानवतावादी आंदोलन शासकीय आदेशों, अध्यादेशों से बचकर अपनी ऐतिहासिक भूमिका का अतीव साहसिकता से पालन करता रहा।

उपासना-पद्धति की मौलिक स्वतंत्रता : शासकीय हस्तक्षेप को चुनौती

भारतीय चिंतन मानव के मूलभूत अधिकारों का सजग प्रहरी रहा है।[1] विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ-साथ उपासना की स्वतंत्रता का भी उसने प्रत्येक भारतीय को अधिकार दिया। अनेक उपासना-पद्धतियों में विश्वास रखते हुए भी हमारी मानवीय गरिमा का कहीं भी खंडन नहीं हुआ है। इसीलिये हम विश्व के प्राचीनतम और महानतम गणवादी होने का गौरव धारण किये हुए हैं। श्री गुरु नानक ने इन तीनों स्वतन्त्रताओं की पक्षधरता ली है और श्री गुरु अमरदास ने भी इस दायित्व के पालन के लिये महत्वपूर्ण एवं साहसिक भूमिका निभायी है। केन्द्रीय शासन ने जब तीर्थयात्रा पर कर लगा दिया, तब श्री गुरु जी ने पूर्ण निर्भीकता से उसका न केवल विरोध किया, अपितु उसे समाप्त करवाने में महनीय भूमिका निभायी।[1a] यदि किसी अवसर पर उन्होंने कोई सरकारी अनुदान ग्रहण किया होता तो इस अवसर पर वह विरोधी भूमिका में अपनी निर्भीकता का प्रदर्शन नहीं कर पाते।

सम्प्रदाय-निरपेक्ष स्तंभ : अन्तर्जातीय समन्वय की सेतु-रचना

श्री गुरु जी ने एक ओर वर्गहीन समाज की संरचना का संपोषण किया, दूसरी ओर उसका प्रसार-विस्तार सम्प्रदाय-निरपेक्ष आधारों पर भी किया। ऐसा करने से उनके सामाजिक दर्शन के दोनों मुख्य संकल्प पूरे होते हैं। एक—भारतीय समाज में भीतरी सामंजस्य-स्थापना। दो—भारतीय और विदेशी समाजों में आत्मीयतापूर्ण सेतु-रचना। अपने सामाजिक संकल्पों के प्रचार के लिये उन्होंने एक नये संघटन की संयोजना की।[15] इसमें विभिन्न वर्गों, गोत्रों, जातियों और धर्मों के लोगों को नियोजित किया।[15] ऐसी संस्थापना से एक निर्वैर, निद्वेष भाईचारे और सामाजिक साझेदारी एवं सहज समन्वयपूर्ण परस्पर सहभागिता की भावना का जन्म हुआ, जिसने उस संक्रांत वातावरण में हमारे घरों की खिड़कियाँ और द्वार खोल दिये। मानव ने स्वच्छ वायु में सांस लेने का सुख अनुभव किया।

यह संघटन न केवल सम्प्रदाय-निरपेक्ष था, अपितु सर्वांशतः गणतंत्रमूलक भी।

'सो क्यों मन्दा आखिए' : नारी-समाज की प्रतिष्ठा

भारतीय समाज स्वस्थ हो, उसकी शिरा-शिरा में नव-रक्त-संचरण हो और समाज की लघुतम इकाई भी एक बड़े संघटन का महत्वपूर्ण अंग होने का गौरव अनुभव करे—इसी विचार से श्री गुरु अमरदास ने नारी-समाज के प्रति श्री गुरु नानक के आदर्श को व्यावहारिक रूप प्रदान किया। विदेशी आक्रांताओं के बर्बरतापूर्ण, पाशविक कृत्यों से भारतीय नारी-समाज अपनी वैदिक युगीन मान-मर्यादा, प्रतिष्ठा-गौरव से गिर चुका था। अंध सामाजिक प्रथाओं की रक्षा के लिये उसका प्राण-हनन हो रहा था। अतीव कटुता, कठोरता, अमानुषिक निर्दयता से उसे प्राण-समर्पण के लिये विवश किया जा रहा था। ऐसे में श्री गुरु अमरदास ने नारी के सम्मान की प्रतिष्ठा के लिये अनेक वंदनीय भूमिकाएं निभायी।[15] उनकी संग-पंगत और दरबार में स्त्री-समाज को संपूर्ण समादर प्राप्त था। इस प्रकार उन्होंने पारिवारिक और सामाजिक असंतुलन को समाप्त करने में अभिनंदनीय दिशा-दर्शन दिया।

शाश्वत-सनातन आधार : केन्द्र और धुरे की रचना

गुरु श्री अमरदास ने अपनी सामाजिक परिकल्पनाओं-संकल्पनाओं को न केवल एक प्रत्यक्ष आचरण ही दिया, अपितु उसे संगठनात्मक आधार भी दिये, और दिये शाश्वत सनातन आधार; उसे दिया एक केन्द्र; दिया एक अनुशासन और दीं मर्यादाएं, संहिताएं। इस प्रसंग में श्री गुरु जी द्वारा नगररचना, बाउली रचना, भवन-रचना, मंदिर-रचना का ऐतिहासिक महत्व है।[15] इस संदर्भ में मैं एक बात अतीव बेलाग मुद्रा में कहना चाहूँगा। गुरु अमरदास जी अपने ऐसे संपूर्ण रचनात्मक आयोजन से शेष भारतीय धर्म-केन्द्रों के प्रति न तो कोई विरक्ति ही जगाना चाहते थे और न उनके विरुद्ध कोई अनास्थावादी अभियान ही चलाना चाहते थे। वस्तुतः ऐसी नवनिर्माण-योजनाओं से वे इस निरंतर पदाक्रांत प्रांत के जन-जन को एक सहज पावनता का वातावरण

देना चाहते थे, जो कि उस भयावह, असुरक्षापूर्ण विदेशी शासन में उनके लिये दुर्लभ होता जा रहा था। इतना ही नहीं, शासकों की असहिष्णुताभरी धर्मान्ध नीतियों से सुदूर-तीर्थयात्राएं प्रतिबंधित भी होती जा रही थीं। ऐसे में गुरु अमरदास जी की नवरचनाएं एक पवित्र विकल्प बनकर आती हैं।

ईश्वरीय अपौरुषेय चिंतन : धुर और 'खसम की बाणी' : प्रारम्भिक संकलन

गुरुवाणी हमारे औपनिषदिक चिंतन का ही पवित्र निर्झर है। वह ईश्वरीय और अपौरुषेय चिंतन से युक्त है—इसी अर्थ में वह 'खसम की बाणी' है। वह हमारे आदि चिंतन से अनुस्यूत है—इसी अर्थ में वह 'धुर की बाणी' है। वह यहाँ के जनमानस के धरातल पर निरंतर प्रवहमान पुण्यतोया जाह्नवी है। श्री गुरु अमरदास ने एक ओर स्वयं बाणी-रचना से 'खसम और धुर' की इसी पवित्र बाणी का संपोषण किया, दूसरी ओर पूर्व-रचित गुरुबाणी के संरक्षण के लिये ठोस प्रयत्न किये।[१५] इस दृष्टि से वे गुरुबाणी के आदि-संकलनकर्त्ता और संरक्षक हैं। इसी भूमिका पर श्री गुरु अर्जुन देव ने आदिग्रंथ के संपादन और बाणी-संकलन की ऐतिहासिक भूमिका का दायित्व-निर्वाह किया।

संत्रास का सर्पदंश : आनन्दवादी जीवन-दर्शन का जयगान

हमने प्रारंभ में ही पंजाब की आक्रमण-विष से संज्ञाशून्य स्थिति की चर्चा की है। निरन्तर मृत्यु-साक्षात्कार से यहाँ का जनजीवन विरक्त, अनास्थ हो रहा था। एक सहज मानवीय जिजीविषा से उसका विश्वास उठ चुका था। आतंक, संत्रास, दैन्य, निराशा के सर्प-दंश उसे पलायनवादी बना रहे थे। इस मृत्यु-संत्रास के हिमशैल को तोड़ने के लिये गुरु अमरदास जी ने आनंद साहिब की रचना की। यह मृत्यु पर विजय का मंत्र है। ऐसा पुण्यश्लोक है, जिसने विरक्ति, आत्महीनता, दैन्य, लघुता, तुच्छता के संत्रास से जन-जन को मुक्त किया। इसने आत्मा को सहज उल्लास और आनंद के धरातल पर मुक्ति का परम सुख प्रदान किया।

श्री गुरु अमरदास के समाज-दर्शन की यह एक ऐसी महनीय मुद्रा है, जिसे उसकी चरित्र-रेखा और केन्द्रीय रेखा भी माना जा सकता है।

मृत्युञ्जयी जीवन-दर्शन : एक उदात्त धरातल पर आत्म-विसर्जन

मृत्युंजयी दर्शन का प्रणयन कर श्री गुरु अमरदास स्वयं भी मृत्युंजय बन गये थे। उत्सर्ग के एक अतीव उदात्त धरातल पर वे अपना प्राण-विसर्जन करते हैं। गुरु-परंपरा का अजस्र स्रोत अव्याहत रहे, गुरु-परंपरा अक्षुण्ण रहे और आगामी नानकरूप ज्योति-पुंजों के माध्यम से यही मानवतावादी गणतंत्रमूलक भारतीय समाज-दर्शन अग्रेषित होता रहे, इसी संकल्प से वे भाई जेठा (गुरु श्री रामदास) के लिये अपना जीवनदान देते हैं।[१६] यह आत्मबलिदान का वह आदि-बिन्दु है, जहाँ से गुरु-परंपरा में प्राणोत्सर्ग का मंगलारंभ होता है।

समापन-बिन्दु : भारतीय चिंतन का रेखांकन

और अंत में मैं यह कहना चाहूँगा कि श्री गुरु अमरदास ने श्री गुरु नानक के सामाजिक दर्शन को व्यापक आधार दिये, खुली दिशाएं दीं, उसे संगठनबद्ध कर एक अनुशासन दिया, उसे जनवादी गणतंत्रमूलक आचरण में अभूदित किया, उसे सत्ता के हस्तक्षेप से मुक्त, स्वतंत्र, सम्प्रदाय-निरपेक्ष, परंतु विशुद्ध मानवतावादी व्यक्तित्व दिया—ऐसा व्यक्तित्व, जो अपने संपूर्ण व्यवहार, आचरण, अनुशासन से भारतीय चिंतन की गरिमा की रक्षा करता है तथा उसका न केवल सहज भाष्य—पुनर्भाषण—ही प्रस्तुत करता है, अपितु उसे जनमानस में अपनी सहज मुद्रा से रेखांकित भी कर जाता है।

हिन्दी विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय,
पटियाला (पंजाब)

सन्दर्भ :

१. गणानां त्वा गणपतिँ हवामहे प्रियाणां त्वा
प्रियपतिँ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिँ
हवामहे वसोमम. . . ॥ १ ॥
—यजुर्वेद, अ० २३, मंत्र—१९ ॥

२. त्रीणि राजाना विदथे. . . . ॥ १ ॥
ऋग्वेद, अ० ३, २, व० २४, मंत्र १ ॥

३. पुरा नवं भवति ।
यास्क । निरुक्त ॥ ३ ॥ १९ ॥

४. . . . .नमो ईश्वरपुत्राय श्री गणेशाय नमो नम :
—वृहत् स्तोव-रत्नाकर ॥

५. समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मंत्रमभिमंत्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥
समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ४ ॥
—ऋग्वेद, अ० ८, व० ४९, मंत्र ३, ४ ॥

६. द्रष्टव्य प्रसंग :—गुरु अंगददेव की सेवा, नित्य प्रातः व्यास नदी से उनके स्नानार्थ पानी लाना, पानी लाने के लिये उल्टे पैर जाना, १२ वर्ष तक यह सेवा-कार्य करना, गुरु जी का रिसता अंगुठा चूसना, गुरु द्वारा दिये गये सरोपों को एक के ऊपर एक करते हुए बांधते जाना । ऐसे ही और भी अनेक प्रसंग मिलते हैं ।

७. ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १ ॥ —तैतिरीय आरण्यक (नवम प्रपाठ । प्रथम अनुवाक्) ॥

८. द्रष्टव्य प्रसंग :—श्री गुरु अमरदास जी के दर्शनार्थ राजा हरिपुर का आगमन, शहनशाह अकबर का आगमन ।

९. द्रष्टव्य प्रसंग :—अकबर का गुरु लंगर के लिये जागीर देने का सविनय अनुरोध और श्री गुरु अमरदास का अस्वीकार ।

१०. द्रष्टव्य प्रसंग:—श्री गुरु अमरदास द्वारा पावन कुरुक्षेत्र और हरिद्वार की पुनः यात्रा और वहाँ जजिये का विनम्रतापूर्वक विरोध ।

११. द्रष्टव्य प्रसंग :—श्री गुरु अमरदास द्वारा २२ परगणों और पीढ़ियों की स्थापनाः प्रमुख स्थान—कपूरथला, गांव मंदर, गोइंदवाल, घमियाल, जंडियाला, बटाला, खेमकरण, गढ़शंकर, मजीठा, डल्ला, मीरपुर, हरगोविंद-पुर चूहनियां, सुलतानापुर, नरेली-माझा, बेरीवाल, खाई-लाहौर, संधना-जालंधर, धडुआं-अंबाला ।

१२. द्रष्टव्य प्रसंग :—श्री गुरु अमरदास द्वारा २२ मंत्रियों, २२ प्रचारकों की नियुक्ति । ये प्रचारक थे—अल्लायार, सचना सच्च, साधारण, सावणमल्ल, सखण, हंदाल, केदारी, खेडा, गंगूशाह, दरबारी, पारो, फेरा, बूआ, बेणी, महेशा, माईदास, माणकचंद, मुरारी, राजाराम, रंगशाह, रंगदास, लालो । इनके अतिरिक्त स्त्रियों को भी प्रचार-कार्य में लगाया—माई सेवां, भागो । इनमें अल्लायार कपूरथले का पठान मुसलमान था ।

१३. द्रष्टव्य प्रसंग :—सती प्रथा का विरोध, पर्दा प्रथा का विरोध, संबंधी-विच्छेद को स्वीकृति, पुनर्विवाह को स्वीकृति; इस संदर्भ में राजा हरिपुर की छोटी रानी का सचना सच से पुनर्विवाह आदि उल्लेखनीय है ।
महिलाओं द्वारा प्रचार-कार्य—माई सेवां, माई भागो के नाम परिगणनीय हैं ।

१५. द्रष्टव्य प्रसंग :—गुरु अमरदास द्वारा गुरु नानक और गुरु अंगददेव की संपूर्ण वाणी का एकत्रीकरण और सुरक्षण ।

१६. द्रष्टव्य प्रसंग :—गुरु अमरदास द्वारा अपनी छोटी पुत्री बीबी मानी के पति भाई जेठा की अकालमृत्यु के निवारण के लिये अपनी शेष आयु का दान और भाई जेठे की गुरु रामदास के रूप में स्थापना ।

डा० वेदप्रकाश वर्मा

नैतिकता, धर्म और राजनीति—गांधी जी की दृष्टि में

सामान्यतः नैतिकता की अवधारणा द्वारा हमें कर्तव्य-अकर्तव्य तथा उचित-अनुचित का बोध होता है, अतः 'कर्तव्य' और 'उचित' को नैतिकता के आधारभूत प्रत्यय माना जा सकता है। इन दो प्रत्ययों के अतिरिक्त संकल्प-स्वातंत्र्य—अर्थात् स्वेच्छया कर्म करने की क्षमता भी नैतिकता का मूल आधार है। मनुष्य का नैतिक उत्तरदायित्व, जिसके कारण हम नैतिक दृष्टि से उसकी प्रशंसा अथवा निंदा करते हैं, अंततः इसी संकल्प-स्वातंत्र्य पर आधारित है। इसके अतिरिक्त यह संकल्प-स्वातंत्र्य ही नैतिक कर्मों को रीति-रिवाजों अथवा किसी अन्य शक्ति के भय से प्रेरित कर्मों से पृथक् करता है।

नैतिकता संबंधी उपर्युक्त सभी मान्यताओं को गांधी जी ने स्वीकार किया है। उनका विचार है कि सच्ची नैतिकता मनुष्य की आंतरिक प्रेरणा तथा स्वतंत्र इच्छा से ही उत्पन्न होती है। ऐसी नैतिकता प्रचलित परंपराओं, रीति-रिवाजों तथा किसी प्रकार के भय पर आधारित न होकर मनुष्य के स्वतंत्र निर्णय पर ही आधारित होती है। जब मनुष्य प्रलोभन और भय दोनों से मुक्त होकर केवल अपने कर्तव्य का पालन करने के लिये कोई कर्म करता है, तभी उसके कर्म को नैतिक माना जा सकता है। इसी दृष्टि से नैतिकता का अर्थ स्पष्ट करते हुए गांधी जी ने लिखा है कि "सच्ची नैतिकता परम्परागत मार्ग का अनुसरण करने में नहीं, वरन् स्वयं अपने लिये सत्य का मार्ग खोजने और निर्भय होकर उसकी ओर अग्रसर होने में है। जो कर्म अपनी स्वतन्त्र इच्छा से नहीं किया गया, उसे नैतिक नहीं कहा जा सकता। जब तक हम यंत्रों के समान कर्म करते हैं, तब तक नैतिकता का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। यदि हम किसी कर्म को नैतिक कहना चाहते हैं तो इसे स्वेच्छया तथा कर्तव्य-पालन के लिये ही किया जाना चाहिए। ऐसा कर्म, जो भय अथवा किसी प्रकार की बाध्यता के कारण किया गया है, नैतिक नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि वे सभी शुभ कर्म, जो स्वर्ग में सुख प्राप्त करने की इच्छा से प्रेरित होकर किये गये हैं, नैतिक नहीं हैं।"

नैतिकता के उद्देश्य के संबंध में गांधी जी का कथन है कि यह व्यक्ति और समाज—दोनों के हितों में समुचित सामंजस्य उत्पन्न करके दोनों के कल्याण के लिये मार्ग प्रशस्त

करती है। मनुष्य में जो स्वार्थमूलक इच्छाएं तथा प्रवृत्तियाँ हैं, उन्हीं के कारण व्यक्तियों में परस्पर संघर्ष उत्पन्न होता है। नैतिकता का उद्देश्य मनुष्य की इन्हीं स्वार्थमूलक इच्छाओं एवं प्रवृत्तियों को नियंत्रित करके सभी व्यक्तियों में पारस्परिक सौहार्द स्थापित करना है। अपनी इन निकृष्ट इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर सकने की क्षमता के कारण ही मनुष्य पशु से भिन्न है और इसी में उसके जीवन की सार्थकता एवं महत्ता है जो उसकी नैतिकता ही उसे प्रदान करती है। इसी कारण गांधी जी नैतिकता को मनुष्य के जीवन तथा उसकी व्यक्तिगत और सामाजिक प्रगति का मूल आधार मानते हैं। उनका विचार है कि मनुष्य ने आज तक जो उन्नति की है, उसका कारण उसकी नैतिकता है, जो उसकी स्वार्थपूर्ण इच्छाओं को नियंत्रित करके उसमें दूसरों की निःस्वार्थ सेवा की भावना उत्पन्न करती है। यह निःस्वार्थ सेवा ही व्यक्तियों में परस्पर सहयोग एवं सौहार्द स्थापित करके समाज के अस्तित्व को बनाये रखती है। इस प्रकार गांधी जी के अनुसार समाज के अस्तित्व का मूल आधार भी नैतिकता ही है। इस दृष्टि से नैतिकता के महत्व और उद्देश्य का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा है कि हमारी इच्छाओं तथा अभिप्रेरणाओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—स्वार्थमूलक और परार्थमूलक। सभी स्वार्थ-मूलक इच्छाएं अनैतिक हैं, जबकि दूसरों की भलाई करने के लिये अपने आपको सुधारने की इच्छा वास्तव में नैतिक है। सर्वोच्च नैतिक नियम यही है कि हम स्वार्थ-रहित होकर मानव-जाति के कल्याण के लिये कार्य करें।[३] इस प्रकार गांधी जी प्रत्येक व्यक्ति को मानव-कल्याण के लिये प्रेरित करना नैतिकता का मूल उद्देश्य मानते हैं। नैतिकता के उद्देश्य के संबंध में उनका यह दृष्टिकोण उचित ही प्रतीत होता है, क्योंकि नैतिकता की सार्थकता अंततः व्यक्ति और समाज—दोनों के कल्याण में अधिकाधिक सहायक होने में निहित है।

कांट तथा कुछ अन्य दार्शनिकों की भांति गांधी जी भी मनुष्य की कर्तव्य-चेतना को नैतिकता का अनिवार्य तत्त्व मानते हैं। वे यह कहते हैं कि कर्तव्य-चेतना से प्रेरित कर्म ही वास्तव में नैतिक है, सुख अथवा भावनाओं से प्रेरित कर्म नहीं। मनुष्य की स्वार्थमूलक प्रवृत्तियाँ अथवा भावनाएँ उसे प्रायः कर्तव्य से विचलित कर देती हैं, अतः नैतिकता के अनुरूप कर्म करने के लिये इन्हें नियंत्रित करना आवश्यक है। कर्तव्य की उपेक्षा करते हुए सुख-प्राप्ति के लिये भावनाओं को अनियंत्रित छोड़ देना मनुष्य के लिये बहुत घातक होता है। सम्पूर्ण मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति का विकास मनुष्य की कर्तव्य-चेतना और उसके आत्मनियंत्रण का ही परिणाम है। इस दृष्टि से मानव-जाति के उत्थान में नैतिकता का विशेष योगदान रहा है। नैतिकता के विषय में अपनी इसी मान्यता को स्पष्ट करते हुए गांधी जी ने लिखा है कि "सभ्यता आचरण का वह तरीका है, जो मनुष्य को कर्तव्य का मार्ग दिखाता है। कर्तव्य का पालन करना तथा नैतिकता के अनुरूप आचरण करना पूर्णतः समान है। नैतिकता के अनुसार आचरण करने का अर्थ है—अपने मन, अपनी प्रवृत्तियों तथा भावनाओं पर नियंत्रण रखना। हम जानते हैं कि मन एक चंचल पक्षी है, वह जितना अधिक प्राप्त करता है, उतना ही अधिक और पाना चाहता है और फिर भी अतृप्त रहता है। हम अपनी प्रवृत्तियों की जितनी अधिक तृप्ति करते हैं, वे उतनी ही अधिक अनियंत्रित होती जाती हैं। इसी कारण हमारे पूर्वजों ने हमारे सुखभोग को सीमित किया था। वे जानते थे कि आनंद मुख्यतः मानसिक स्थिति है। मनुष्य धनवान होने के कारण अनिवार्यतः सुखी तथा निर्धन होने के कारण अनिवार्यतः दुःखी नहीं होता। प्रायः धनवान व्यक्ति दुखी तथा निर्धन व्यक्ति सुखी देखे जाते हैं।"[४] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गांधी जी नैतिक आचरण की दृष्टि से मनुष्य के कर्तव्य-पालन तथा आत्मनियंत्रण के लिये उसके प्रयास को विशेष महत्व देते हैं। उनका यह दृष्टिकोण अनेक महान भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारों के अनुरूप ही है।

नैतिकता और धर्म

प्रायः यह प्रश्न पूछा जाता है कि नैतिकता और धर्म में क्या संबंध है? गांधी जी ने इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर भी विस्तारपूर्वक विचार किया है। वे कहते हैं कि नैतिकता और धर्म—दोनों एक दूसरे पर पूर्णतया निर्भर हैं। इन दोनों को एक दूसरे से पृथक् समझना अथवा इन दोनों में किसी प्रकार का विरोध ढूंढना अनुचित और हानिकारक है। गांधी जी ने धर्म और नैतिकता का जो

व्यापक अर्थ बताया है, उस अर्थ में वे दोनों को एक दूसरे के लिये अनिवार्य मानते हैं। उनका कथन है कि प्रत्येक धार्मिक सिद्धान्त के लिये नैतिकता के अनुरूप होना अनिवार्य है। जो धार्मिक सिद्धान्त नैतिकता के विरुद्ध है उसे वास्तव में धार्मिक नहीं माना जा सकता। अपनी इसी मान्यता के कारण गांधी जी ने उन सभी धार्मिक रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं का विरोध किया है, जो नैतिकता के प्रतिकूल हैं। उदाहरणार्थ—मध्यकालीन और वर्तमान तक के भी हिन्दू समाज में धर्म के नाम पर अस्पृश्यता, पशु-बलि और देवदासी प्रथा को स्वीकार किया जाता रहा है, किन्तु इन सभी प्रथाओं को नैतिकता के विरुद्ध मान कर गांधी जी ने इनकी निंदा की है। स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि नैतिकता पर विचार किये बिना केवल धर्म के नाम पर किसी परम्परा अथवा प्रथा को स्वीकार कर लेना अनुचित है। धर्म कभी भी मनुष्य को नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करने की शिक्षा नहीं देता, अतः धर्म का नैतिकता से संघर्ष नहीं हो सकता। जो मनुष्य नैतिक दृष्टि से पतित है, वह वास्तविक अर्थ में धर्मपरायण अथवा ईश्वर का भक्त नहीं है। ऐसा मनुष्य वास्तव में धर्म का अर्थ ही नहीं जानता। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या धर्म का परित्याग करके मनुष्य नैतिक हो सकता है? गांधी जी इस प्रश्न का स्पष्टतः नकारात्मक उत्तर देते हैं। व्यापक अर्थ में धर्म को वे नैतिकता के लिये अनिवार्य मानते हैं। धर्म और नैतिकता के पारस्परिक संबंध को स्पष्ट करते हुए गांधी जी ने कहा है कि "सच्चा धर्म और सच्ची नैतिकता अलग इस प्रकार संबद्ध हैं कि उन्हें एक दूसरे से कभी अलग नहीं किया जा सकता। धर्म नैतिकता के लिये उतना ही आवश्यक है, जितना धरती में पड़े बीज के लिये पानी। मैं ऐसे धार्मिक सिद्धान्त को अस्वीकार करता हूं, जो तर्कबुद्धि के अनुरूप नहीं है और जो नैतिकता के विरुद्ध है। मैं ऐसी अयुक्तिसंगत धार्मिक भावना को सहन कर सकता हूँ, जो अनैतिक नहीं है। ज्यों ही हम नैतिक आधार खो देते हैं, हम धार्मिक नहीं रह जाते। नैतिकता से ऊपर कोई धर्म नहीं है। उदाहरणार्थ—कोई भी मनुष्य असत्यवादी, निर्दय तथा असंयमी होकर ईश्वर का दावा नहीं कर सकता कि ईश्वर उसके पक्ष में है।"

गांधी जी के इन विचारों से धर्म के लिये नैतिकता की अनिवार्यता पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है। परन्तु उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट नहीं होता कि नैतिकता के लिये धर्म किस अर्थ में और क्यों अनिवार्य है। संभवतः गांधी जी यह कहना चाहते हैं कि ईश्वर में आस्था रखना और उसकी उपासना करना नैतिकता के लिये अनिवार्य है, किंतु उनकी यह मान्यता तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती। उन्होंने नैतिकता का जो अर्थ बताया है, उस अर्थ में निरीश्वरवादी भी नैतिकता के अनुरूप आचरण कर सकता है; इसमें उसके लिये कोई बाधा नहीं है। भारत तथा पाश्चात्य देशों में ऐसे अनेक विचारक हुए हैं, जो ईश्वर में आस्था न रखते हुए भी नैतिक दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट व्यक्ति थे। वस्तुतः नैतिक नियमों के अनुसार आचरण करने के लिये ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है, अतः ईश्वर में आस्था रखना नैतिकता के लिये अनिवार्य नहीं माना जा सकता।

धर्म और राजनीति

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गांधी जी धर्म और नैतिकता को मनुष्य के व्यक्तिगत एवं पारिवारिक जीवन तक ही सीमित नहीं मानते। उनका विचार है कि सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में भी धर्म और नैतिकता के अनुसार आचरण करने की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी व्यक्तिगत एवं पारिवारिक जीवन में। हमारे जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं हो सकता, जिसके लिये धर्म तथा नैतिकता अनिवार्य न हो। अपनी इसी मान्यता के आधार पर गांधी जी ने राजनीति में भी धर्म और नैतिकता को सर्वोच्च स्थान दिया है और प्रत्येक राजनीतिज्ञ के लिये इनके अनुसार आचरण करना अनिवार्य माना है। विश्व का दीर्घकालीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि राजनीति प्रायः सदैव छल, कपट, हिंसा, क्रूरता, अन्याय, शोषण, अत्याचार आदि दुर्गुणों पर आधारित रही है। अच्छा और सफल राजनीतिज्ञ उसे ही माना जाता है, जो उचित-अनुचित साधनों द्वारा अपने देश के हित की रक्षा कर सके। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह अन्य देशों के लोगों को भारी कष्ट अथवा हानि पहुँचाने में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं करता। सभी उन्नत देशों का इतिहास

ऐसे ही सफल राजनीतिज्ञों की प्रशस्ति-गाथाओं से भरा पड़ा है। इसी कारण राजनीति को "स्वार्थ एवं क्रूरता का खेल" माना जाता है और जो राजनीतिज्ञ इस भयंकर खेल में जितना अधिक निपुण है, उसे उतना ही महान एवं सफल राजनीतिज्ञ समझा जाता है। परंतु सत्य और अहिंसा के पुजारी होने के कारण गांधी जी राजनीति के संबंध में इस परम्परागत स्वार्थपूर्ण तथा हिंसात्मक दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है कि राजनीति अंततः सम्पूर्ण मानव-जाति के कल्याण का साधन है, अतः इसमें हिंसा, क्रूरता, छल, कपट, अन्याय आदि दुर्गुणों के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता। शुभ लक्ष्य की भांति, उसे प्राप्त करने के लिये साधनों का शुभ होना भी अनिवार्य है, अशुभ साधनों द्वारा शुभ लक्ष्य को स्थायी रूप से कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता। अन्य क्षेत्रों की भांति राजनीति में भी गांधी जी सदैव अपनी इसी मान्यता के अनुसार आचरण करते रहे। सत्य और अहिंसा से रहित, केवल स्वार्थ पर आधारित राजनीति को वे धर्म तथा नैतिकता के विरुद्ध मानते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि इस प्रकार की राजनीति अंततः मानव जाति के लिये घातक ही सिद्ध होगी। इसी कारण व्यापक अर्थ में धर्म को राजनीति के लिये अनिवार्य मानते हुए गांधी जी ने लिखा है कि "मेरे लिये धर्म से शून्य राजनीति का अस्तित्व नहीं है। राजनीति धर्म की सेविका है। धर्म से रहित राजनीति मृत्यु का फंदा है, क्योंकि वह आत्मा को मार डालती है"।[५] इस प्रकार राजनीति के लिये धर्म और नैतिकता को अनिवार्य मानकर गांधी जी ने विश्व के समक्ष एक नया तथा क्रांतिकारी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। वे अन्य सभी क्षेत्रों की भांति राजनीति में भी बुद्ध और ईसा के इस महान सिद्धान्त के अनुसार आचरण करना अनिवार्य मानते हैं कि "असत्य को सत्य से, घृणा को प्रेम से तथा हिंसा को अहिंसा से जीतो।" इस प्रकार गांधी जी के विचार में सत्य और अहिंसा पर आधारित राजनीति ही सम्पूर्ण मानव-जाति के कल्याण में सहायक हो सकती है।

राजनीति के संबंध में गांधी जी का यह मानवतावादी दृष्टिकोण आदर्श की दृष्टि से निश्चय ही श्लाघ्य एवं वांछनीय है, किंतु संसार की विडम्बनाओं को देखते हु प्रत्येक परिस्थिति में इसे कार्यान्वित करना संभव प्रती नहीं होता। मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन में किसी भी मूल्य पर नैतिक सिद्धान्तों का अनुसरण कर सकता है वह उनके लिये अपने जीवन का भी बलिदान कर सक है। परंतु, जब कोई व्यक्ति देश के शासक के रूप में कार्य करता है तो लाखों या करोड़ों व्यक्तियों के जीवन पर उसके कार्यों तथा निर्णयों का व्यापक प्रभाव पड़ता है अथवा पड़ सकता है। ऐसी स्थिति में वह अपने निजी धार्मिक अथवा नैतिक सिद्धान्तों के लिये करोड़ों व्यक्तियों के हित का बलिदान नहीं कर सकता और उसके लिये ऐसा करना उचित एवं वांछनीय भी नहीं है। अत राजनीति के क्षेत्र में 'एकादश व्रतों' की सीमाएं कुछ संकुचित हो जाती हैं। उदाहरणार्थ—अहिंसा और सत्य के अनुसार आचरण करने के लिये कोई भी शासक अपने देश की सुरक्षा को खतरे में नहीं डाल सकता। इसी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि किसी भी व्यक्ति को अपने धार्मिक तथा नैतिक सिद्धान्तों के लिये देश को संकट में डालने अथवा उसे क्षति पहुँचाने का अधिकार नहीं है। यदि विशेष संकट की परिस्थितियों में वह देश-हित के लिये अपने निजी सिद्धान्तों का बलिदान नहीं कर सकता तो उसे राजनीति का परित्याग कर देना चाहिए, इसी में स्वयं उसका तथा उसके देश का कल्याण है। प्रत्येक देश में कुछ समाज-विरोधी व्यक्ति अवश्य होते हैं और अवसर मिलने पर वे देश को भारी क्षति पहुँचाने के लिये सदा उद्यत रहते हैं। यदि कोई शासक सैनिक शक्ति द्वारा इन समाज-विरोधी व्यक्तियों को नियंत्रित नहीं करता तो वह कभी भी देश का कल्याण नहीं कर सकता। स्पष्ट है कि देश के शासक के लिये सभी परि-स्थितियों में अहिंसा एवं सत्याग्रहपूर्ण आचरण करना न तो संभव है और न वांछनीय। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि शासक जनता के साथ छल, कपट, हिंसा और क्रूरता का प्रयोग करे। ऐसा करने वाला शासक देश का हितैषी नहीं, अपितु अत्याचारी तानाशाह होता है, जिसे जनता विद्रोह अथवा अन्य उपायों द्वारा यथासंभव शीघ्र ही सत्ताच्युत कर देती है। अपनी व्यक्तिगत महत्वा-कांक्षाओं की पूर्ति के लिये छल, कपट, क्रूरता आदि का प्रयोग करना किसी भी शासक के लिये अत्यंत लज्जा-

मंथन

खते हुए
प्रतीत
सी भी
ता है,
सकता
रूप में
जीवन
पड़ता
निजी
क्तियों
लिये
अतः
फुछ
और
शासक
। हमें
व्यक्ति
श को
धकार
देश-
ं कर
हिए,
है ।
ते हैं
ने के
निक
वित
कर
वरि-
ा न
अर्थ
और
का
जसे
ीघ्र
त्वा-
का
जा-

सक तथा निंदनीय है। वस्तुतः शासक का आचरण ही व्यावहारिक एवं संतुलित दृष्टिकोण की आवश्यकता
ा होना चाहिए कि उससे देश का और यथासंभव है।
मूर्ण मानव-जाति का कल्याण हो। राजनीति में ऐसे

—दर्शनशास्त्र विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

सर्भ :

१. 'सलेक्शन्स फ्रॉम गांधी', पृष्ठ २५४, सम्पादक—निर्मल कुमार बोस
२. वही, पृष्ठ २५५
३. 'हिन्दू धर्म', पृष्ठ ५७, सम्पादक—भारतन् कुमारप्पा
४. 'सलेक्शन्स फ्रॉम गांधी', पृष्ठ २५५
५. 'हिन्दू धर्म', पृ० ९४

गांधी और हेडगेवार

बात तब की है जब डॉ० हेडगेवार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्यकर्त्ता थे। वे लोकमान्य तिलक के 'गरम दल' से सम्बद्ध थे। महात्मा गांधी स्वातन्त्र्य-आंदोलन को व्यापक और शक्तिशाली बनाने के लिये हिन्दू-मुस्लिम-एकता पर विशेष बल दे रहे थे। डॉ० हेडगेवार को इस सदुद्देश्यपूर्ण प्रयत्न के मनोवैज्ञानिक परिणाम पर शंका हुई। वे गांधी जी से मिले और कहा कि 'भारत में हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई—सभी लोग रहते हैं, इन सबकी एकता की कल्पना प्रस्तुत न करके आप केवल हिन्दू-मुस्लिम-एकता की बात विशेषता से क्यों करते हैं?' गांधी जी ने उत्तर दिया—'ऐसा करने से मुसलमानों के मनों में देश के प्रति आत्मीयता उत्पन्न हुई है और वे राष्ट्रीय आन्दोलन में हमारे साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर काम कर रहे हैं।' इस पर डॉ० हेडगेवार ने बताया कि ' 'हिन्दू-मुस्लिम-एकता की बात के प्रचार से पूर्व भी अनेक मुसलमान राष्ट्रप्रेम का परिचय देते हुए लोकमान्य तिलक के साथ काम कर रहे थे।' उदाहरण के लिये उन्होंने बैरिस्टर जिन्ना, डॉक्टर अंसारी, हकीम अजमल खाँ आदि अनेक के नाम गिनाये और कहा कि 'हिन्दू-मुस्लिम-एकता' शब्दप्रयोग से मुझे तो आशंका है कि मुसलमानों में पृथकता की ही भावना बढ़ेगी।' गांधी जी ने निश्चयपूर्वक 'मुझे ऐसी कोई आशंका नहीं' कहकर बात समाप्त कर दी।

गांधी जी का वह विश्वास सत्यापित न हो सका और १९४७ में उन्हें कहना पड़ा—'यदि पाकिस्तान बनता है तो मेरी लाश पर बने'। परन्तु दुर्भाग्य कि पाकिस्तान भी बनने से रोका न जा सका। गांधी जी के अनुयायियों ने राज्य-सत्ता के लेन-देन के समय उन्हें उनकी मान्यताओं के साथ अकेला छोड़ दिया। न हिन्दू-मुस्लिम-एकता की रक्षा हुई, न ही गांधी जी के संकल्प के अनुरूप देश की अखण्डता की।

□

दीनदयाल-जयन्ती,
गांधी-जयन्ती और
लोहिया-पुण्यतिथि पर

डा० हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल

गांधी, लोहिया और दीनदयाल : विचारों में कितने निकट, कितने दूर ?

जीवन वैविध्यपूर्ण है, सत्य अनन्त है। हम लोग उसके विभिन्न पक्षों से अपरिचित रहने के कारण या समग्रतापूर्वक विचार न कर पाने के कारण कभी-कभी एक ही पक्ष को सम्पूर्ण सत्य ठहराने का आग्रह करने लगते हैं, भारत के चिरपरिचित विग्रह एवं पराभव का यह भी एक कारण है।

आधुनिक भारत में महापुरुष अनेक हुए, परन्तु उनमें से महात्मा गांधी, डा० राममनोहर लोहिया और पं० दीनदयाल उपाध्याय को एक साथ विचार के लिये चुनने का विशेष औचित्य यह है कि ये तीन व्यक्ति प्रकृति की तीन प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत के उत्कर्ष के लिये समग्र प्रयास में इन तीनों प्रवृत्तियों के योग की आवश्यकता है, यद्यपि अपने विचारों में यथा-संभव समग्रता रखने का प्रयत्न इन तीनों जननेताओं ने भी किया था।

गांधी जी चाहते तो मोक्ष या निवृत्ति थे, परन्तु उनकी शैली सृजन की थी। उनकी मोक्ष-साधना में शाश्वत सत्यों का रक्षण और नये श्रेष्ठ का सृजन भी सम्मिलित था। उनका संदेश धर्म पर आरूढ़ लोककल्याणकारी रामराज्य के सृजन का संदेश था। लोहिया जी चाहते थे सृजन, परन्तु उनकी शैली ध्वंस की थी। उनका मुख्य स्वर एक समतामय समाज के निर्माण-हेतु भूमि की तैयारी के रूप में असमानतायुक्त पुराने को ध्वस्त करने का रहा, यद्यपि उनकी सम्पूर्ण शक्ति इसी में खप गयी और वास्तविक नवनिर्माण का अवसर उनके जीवन में आ न सका। दीनदयाल जी धर्म—अर्थात् समाज की श्रेयस्कारी धारणा—चाहते थे और उन्होंने कालबाह्य व्यर्थ रूढ़ियों के त्याग और नये श्रेष्ठ के सृजन के साथ मानवता की उत्तम धारणा के लिये एकात्म मानववाद नामक जीवन-दर्शन का प्रतिपादन किया।

इन तीनों में समानता थी उनके मूलभूत भारतीय संस्कारों की, और अन्तर था भिन्न-भिन्न प्रेरणा-स्रोतों का; उनमें समानता थी उनके समन्वयवादी उदार दृष्टिकोण की, और अन्तर था उनके विचारों में समग्रता के परिमाण का; उनमें समानता थी स्वार्थपरता और अन्याय से मुक्त सर्वहितकारी समाज-निर्माण के लक्ष्य की, और अन्तर था

इस लक्ष्य के साधनभूत उपायों संबंधी उनके चिन्तन और निष्कर्षों का।

चिन्तन-शैली

गांधी जी प्रत्येक उस व्यक्ति को, जिसके लिये वे विचार करते थे, अपने ही साँचे में स्थापित करके विचार करते थे। उनके लिये सभी आत्मवत् थे, अतः वे दूसरों के लिये भी वही मानदण्ड ठीक समझते थे, जो उन्होंने अपने लिये निर्धारित किया होता था। गांधी जी को पत्र लिखकर लोग प्रायः कहा करते थे कि ब्रह्मचर्य, सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त जिस रूप में वे प्रस्तुत करते हैं, वे जनसामान्य के लिये असम्भव आदर्श हैं। किन्हीं वीतराग तपस्वियों के लिये उनपर आचरण करना भले ही संभव हो, एक साधारण संसारी वैसा नहीं कर सकता। परन्तु गांधी जी का मत था कि गांधी जैसा व्यक्ति जो कितना गिर गया था, जब उबर सका तो हर व्यक्ति के लिये कुछ न कुछ आशा अवश्य है। अपनी आत्मकथा लिखने में, यही बताना उनका उद्देश्य था। उनका विश्वास था कि हर प्रकार की दुर्बलताओं के उपरान्त भी गर्त से उठकर जिन आदर्शों पर वे चल सके, उन पर और सब भी चल सकते हैं।

दूसरी ओर दीनदयाल जी सबके अन्दर पैठकर—स्वयं को सबके साँचे में स्थापित करके—विचार करते थे, अतः वे वह कहते थे जो एक सामान्य मानव के लिये भी उन्हें व्यावहारिक प्रतीत होता था। उन्होंने मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों को प्रकृति की स्वाभाविक अभिव्यक्ति मानते हुए, उन्हें संस्कारित करके, संस्कृति का विकास करने पर बल दिया। गांधी जी और दीनदयाल जी, दोनों ही गीता के अनुयायी थे। गीता के अनुसार—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः। (६।२९)

सबके प्रति समदर्शी योगयुक्त आत्मा स्वयं को सब भूतों में और सब भूतों को अपने में देखता है। गांधी और दीनदयाल नाम के ये दो कर्मयोगी इन्हीं दो विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। बाह्यतः भले ही उनमें अन्तर प्रतीत हो, पर मूल में उनकी दृष्टि क्या है ? एक सबको अपने में देखता है और दूसरा स्वयं को सब में।

डा० लोहिया का भी आग्रह रहता था कि दूसरों की बात को समझना हो तो उनके अन्दर पैठकर समझना चाहिए, परन्तु उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि दूसरों को पूर्णतः समझ पाना है कठिन। यह कठिनाई उनके सम्मुख आनी स्वाभाविक थी, क्योंकि भौतिकवाद से प्रेरणा लेने वाले उनके मस्तिष्क में आत्मिक अद्वैत की बात नहीं आयी। दूसरों के अन्दर पैठने की इच्छा रखते हुए भी वे ज्ञाता और ज्ञेय का भेद बनाये रखना चाहते थे और जहाँ यह भेद है, वहाँ ज्ञान की अपूर्णता तो निश्चित ही है।

प्रयत्न इन तीनों महापुरुषों ने यथासंभव संपूर्ण जीवन-दर्शन देने का किया। वे तीनों ही संस्कारों से भारतीय थे, अतः उनके विचारों में भारतीय मनीषा इस युग की आवश्यकताओं के अनुसार परिभाषित हुई है। भारतीय दर्शन समग्रतावादी है। उसमें जीवन और सत्य के सभी पक्षों को ध्यान में रखकर विचार होता है। इन तीन महापुरुषों द्वारा प्रतिपादित जीवन-दर्शनों में भी समग्रता और समन्वय का यह आग्रह देखा जा सकता है, यद्यपि उनकी प्राथमिकताओं और जीवन-मूल्यों-संबंधी निर्णयों में कुछ अन्तर अवश्य है।

भारतीय ऋषियों ने जीवन की पूर्ण सफलता के लिये चार पुरुषार्थों की आवश्यकता प्रतिपादित की है, जिन के नाम हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। महात्मा गांधी ने धर्म, अर्थ और मोक्ष, इन तीन पुरुषार्थों को स्वीकारा तथा इनमें से भी मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना। धर्म और अर्थ को उन्होंने मोक्ष के साधनों के रूप में मान्यता दी। इनमें भी धर्म मुख्य साधन था। काम को वे मोक्ष-मार्ग में बाधक समझते थे।

डा० लोहिया ने मान्यता तो धर्म, अर्थ और काम, इन तीन पुरुषार्थों को दी, परन्तु धर्म के प्रति, उसकी विशिष्ट इहलौकिक उपयोगिता से अधिक, कोई श्रद्धा का भाव उनके मन में नहीं था और मोक्ष में तो शायद उन्हें सन्देह

था। अपने जीवन-दर्शन में विशेष महत्व लोहिया ने अर्थ को दिया था।

प० दीनदयाल उपाध्याय समग्रतावादी थे, अतः उन्होंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों को मान्यता दी, परन्तु धर्म को वे आधारभूत पुरुषार्थ मानते थे, क्योंकि धर्म लौकिक अभ्युदय और पारमार्थिक कल्याण—दोनों का ही हेतु कहा गया है।

समग्रतः इन तीनों महापुरुषों का चिन्तन भारत के समग्र सांस्कृतिक जीवन-दर्शन से प्रभावित था, परन्तु विशेषतः गांधी जी का मोक्ष के प्रति, लोहिया जी का अर्थ के प्रति और दीनदयाल जी का धर्म के प्रति अधिक रुझान था।

मोक्ष या स्वतन्त्रता

मैं जब कहता हूँ कि गांधी जी का विशेष रुझान मोक्ष के प्रति था, तो कुछ लोगों को—विशेषतः गांधी जी के उन श्रद्धालुओं को, जो परमार्थ की अपेक्षा ऐहिक जगत् को अधिक महत्व देते हैं—यह प्रतीत हो सकता है कि भारत की स्वतंत्रता, जो कि कोई पारमार्थिक सिद्धि नहीं, वरन् प्रत्यक्ष ऐहिक वास्तविकता है, के सबसे बड़े योद्धा महात्मा गांधी के प्रति यह अन्याय है। इसके विपरीत महात्मा गांधी के निवृत्तिमार्गी श्रद्धालुओं को लग सकता है कि महात्मा जी की मान्यता में धर्म और मोक्ष के साथ अर्थ को भी गिनकर मैंने कुछ अनुचित किया है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। स्वतन्त्रता गांधी जी के जीवन का सबसे बड़ा संकल्प रहा, परन्तु मोक्ष का अर्थ भी स्वतन्त्रता ही है। स्वतन्त्रता आत्मा के शुद्धतम स्वरूप का धर्म है और गांधी जी उसी शुद्ध स्वरूप को पाने के लिये जीवन भर प्रयत्नरत रहे। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि उनकी राजनीति भी उसी अन्तिम सत्य को पाने का साधन मात्र है। भारतीय दर्शन के अनुसार आत्मा की अभिव्यक्ति के मुख्यतः पाँच स्तर हैं, सर्वोच्च है—आनन्दमय आत्मा, फिर विज्ञानमय आत्मा, तब मनोमय आत्मा, उसके बाद प्राणमय आत्मा और सबसे अंत में स्थूल अन्नमय आत्मा, जो कि यह हमारा शरीर है। पूर्ण स्वतन्त्रता या मोक्ष आनन्दमय आत्मा का स्वरूप है। उससे जैसे-जैसे स्थूलता की ओर बढ़ते जाते हैं, स्वतन्त्रता का ह्रास होते चलता है और बन्धन बढ़ता जाता है। सबसे अधिक बन्धन में शरीर है, जो गुरुत्वाकर्षण के पाश से धरती से बंधा है। प्राण में कुछ अंश स्वतन्त्रता है, इसलिये जीवित शरीर चल-फिर सकता है। मन उससे अधिक स्वतन्त्र है, इसलिये वह नाना कल्पना-लोकों में विचरण कर लेता है। बुद्धि में मन से अधिक स्वतन्त्रता है, इसलिये वह प्रकृति के ऊपर विजय पाने का मार्ग दिखाती है, तथा आत्मा परम स्वतन्त्र है। शुद्ध आत्मा का प्रेम गांधी जी के अन्तःकरण या अवचेतन की गहराई में बसा था, इसलिये सचेतन प्रयास में भी उन्होंने स्वतन्त्रता को ही सबसे अधिक महत्व दिया।

भूखों का भगवान रोटी

दूसरी ओर साधन के रूप में अर्थ की भी गांधी जी ने उपेक्षा नहीं की। मोक्ष के साधन इस शरीर के लिये अर्थ का कितना महत्व उन्होंने माना, यह दरिद्रता और भूख से पीड़ित करोड़ों लोगों की दुर्दशा को देखकर उनके मुख से निकले मार्मिक उद्गार से प्रकट होता है कि 'यदि ईश्वर भारत में अब अवतार ले तो उसे रोटी के रूप में आना पड़ेगा। रोटी ही भूखों का भगवान है।'

पेट और मन

भूखों का भगवान यह रोटी डा० लोहिया के मस्तिष्क में तो इस प्रकार छा गयी कि जीवन के दूसरे पक्ष उसके समक्ष गौण हो गये। पेट के भरने से आगे उन्हें यदि कुछ स्मरण आया तो वह था सौन्दर्य। दरिद्रता, शोषण, उत्पीड़न, अन्याय, असमानता के रूप में चिपकी हुई सामाजिक कुरूपता के विरुद्ध लड़ना तो उनके जीवन का सबसे बड़ा व्रत हो गया, इसके आगे भी धर्म जैसे विवेकाश्रित क्षेत्र में उनकी मनोनीत बौद्धिकता मलीनता के प्रक्षालन और सौन्दर्य-रसपान में विशेषतः झुकी। जहाँ तीर्थों और नदियों की स्वच्छता की ओर उन्होंने ध्यान दिलाया, वहीं प्रसिद्ध मन्दिरों में उनकी दृष्टि का सबसे बड़ा आकर्षण वहाँ अंकित मिथुन-चित्रों का सौन्दर्य बना। यहाँ लोहिया का यह सौन्दर्य-बोध गांधी जी की अध्यात्म-साधना की विपरीत दिशा में दिखायी

देता है। जैसा कि मैंने पहले कहा, गांधी जी की जीवन-आदर्श-संबंधी मान्यताओं में काम के लिये बहुत कम स्थान था। स्वराज्य-संबंधी उनकी धारणा में अपने मन और इन्द्रियों पर राज्य करने की बात सबसे ऊपर थी। मन को एक क्षण के लिये भी स्खलित होने की छूट देना उन्हें स्वीकार्य नहीं था। उनकी नैतिक शिक्षा में ब्रह्मचर्य को अत्यन्त गरिमामय स्थान प्राप्त था। विवाह संस्था को वे संयमित जीवन जीने का पवित्र साधन मानते थे जिसमें वासना के दूषण के लिये कोई स्थान नहीं है। वंशवृद्धि की आवश्यकता के अतिरिक्त काम की कोई उपयोगिता जीव-हित में वे नहीं देखते थे। उनकी दृष्टि में मानव-जीवन का उद्देश्य भोग नहीं, निवृत्ति है। इसके विपरीत डा० राममनोहर लोहिया के कुछ अनुयायियों में उनका एक उद्धरण मैंने नारे के रूप में लोकप्रिय देखा कि 'बादाखिलाफी के अलावा औरत-मर्द का हर रिश्ता जायज है'। वैसे तो स्त्री-पुरुष-संबंध की सबसे आदर्श व्यवस्था डा० लोहिया ने पतिव्रत और पत्नीव्रत मान्य की, परन्तु व्यवहार में बलप्रयोगरहित छूट उन्हें स्वीकार थी। उन्मुक्त संबंधों की प्रशंसा वे बहुत उत्साह से करते थे। स्त्रियों को तो लोहिया ने पतिव्रता सावित्री के स्थान पर पंचपतिका द्रौपदी को आदर्श मानने का तथा एक ही पुरुष तक सीमित रहने के प्रतीक-स्वरूप सौभाग्य-चिह्न का बोझ शिर से उतार फेंकने का परामर्श भी दिया था। यह बात भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों से ही नहीं, महात्मा गांधी जैसे सुधारवादी उदार युग-पुरुष द्वारा निर्धारित नैतिकता से भी बहुत दूर थी। इसे उचित सिद्ध करने के लिये तर्क हो सकते हैं, पर वे समग्र चिन्तन से च्युत, अमर्यादित, अतिवादी दृष्टिकोण पर आधारित तर्क ही होंगे।

पुरुषार्थ-चतुष्टय

पं० दीनदयाल उपाध्याय का कहना था कि मानव एकांगी नहीं, बहुरंगी है, अतः व्यक्तित्व के किसी एक ही पक्ष या जीवन की किसी एक ही आवश्यकता पर अत्यधिक बल देने तथा अन्य पक्षों या आवश्यकताओं की उपेक्षा कर देने से वह सुखी या सन्तुष्ट नहीं रह सकता। उन्होंने मनुष्य के व्यक्तित्व, जीवन की सार्थकता और अन्तिम उद्देश्य के प्रति समग्र एवं संतुलित दृष्टि रखने पर बल दिया। दीनदयाल जी ने कहा कि मनुष्य की सभी क्रियाओं का एक ही उद्देश्य है—सुख या आनन्द की प्राप्ति, अतः भोजन, वस्त्र, आवास की सुविधा तो चाहिए ही, परन्तु शरीर या इन्द्रियों का सुख ही सब कुछ नहीं है। मन की भावना सन्तुष्ट न हो, मन को यदि आघात पहुंचता हो, तो सामने थाली में रखे स्वादिष्ट व्यंजन भी विषतुल्य लगते हैं, अतः मन का सुख भी आवश्यक है। इतना ही नहीं, यदि बुद्धि सन्तुष्ट न हो, यदि विवेक स्वीकार न करता हो, यदि क्षणिक सुख के पीछे बड़ा दुःख छिपा होने का अनुमान होता हो, तो उस स्थिति में भी सुखी सन्तुष्ट होना संभव नहीं है। इन सभी के होते हुए भी कभी विच्छिन्न न होने वाली स्वानुभूति के नित्य सुख का लाभ तो सर्वोच्च प्राप्तव्य है, जिसे मोक्ष कहते हैं। इन सभी आवश्यकताओं को समुचित महत्व देने से ही जीवन सुखी और सार्थक होता है। दीनदयाल जी का मानना था कि सबके साथ एकात्मता का अनुभव करते हुए सर्वहित के लिये प्रयत्न न करके अकेले अपना मोक्ष चाहने वाले को मोक्ष नहीं मिल सकता। मोक्ष के लिये प्रयत्न करने से अधिक महत्व उन्होंने धर्म को दिया और कहा कि धर्म आधारभूत पुरुषार्थ है, जिससे अर्थ, काम और मोक्ष, इन तीनों की प्राप्ति संभव है।

धर्म, धर्मराज्य और रामराज्य

धर्म से दीनदयाल जी का अभिप्राय कोई उपासना-पंथ नहीं था। धर्म वह है जो सबको धारण करता है। अतः धर्म प्रकृति के उन विधानों का नाम है, जिनसे यह सम्पूर्ण चराचर जगत् टिका हुआ है। मानवता की रक्षा और उन्नति जिन नियमों से होती है, उनका नाम मानव-धर्म है, अतः सभी प्रकार के उचितानुचित के निर्णय का आधार धर्म ही है। धर्म ही अर्थ और काम की मर्यादा का निर्धारण करता है। ये दोनों उसी सीमा तक पुरुषार्थ हैं, जहां तक धर्म के अनुकूल रहते हैं। अमर्यादित अर्थ और काम धर्म का नाश करने वाले तथा पतन के हेतु होते हैं। धर्म का उल्लंघन करने का अधिकार बहुमत को भी नहीं है। दीनदयाल जी का मत था कि धर्मानुसार चलने वाला अल्पमत भी धर्मविरुद्ध बहुमत से श्रेष्ठ है, अतः विधि-व्यवस्था के लिये विधान का निर्माण धर्म के अनुसार होना चाहिए, न कि कोरे

बहुमत के आधार पर। वे धर्म के अनुसार चलने वाला 'धर्मराज्य' चाहते थे, जिसमें सब लोग एक दूसरे की आवश्यकताओं और भावनाओं का ध्यान रखते हुए परस्परानुकूल बनकर एकात्मभाव से रहें।

धर्म के संबंध में कुछ ऐसी ही भावना महात्मा गांधी की भी रही है। वे भी बहुमत के निर्णय से अधिक महत्व दैवी नियमों और अन्तरात्मा के आदेश को देते थे। गांधी जी के लिये धर्म का अर्थ ईश्वर-प्राप्ति का लक्ष्य सामने रखकर अनासक्त भाव से सत्यता और सबके साथ प्रेमपूर्वक अपनी जीवन-यात्रा को चलाना है। धर्म का विशिष्ट अर्थ उन्होंने स्वधर्म-पालन किया और कहा कि अधिक धनोपार्जन की स्पर्धा में न पड़कर जीवन-निर्वाह के लिये अपने पूर्वजों का व्यवसाय ही करके जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य की ओर बढ़ना प्रत्येक का स्वधर्म है। गांधी जी ऐसी राजनीति को अस्वीकार करते थे जो धर्म में बाधक बनती हो। अपनी कल्पना के धर्मानुसार चलने वाले राज्य को उन्होंने 'रामराज्य' नाम दिया था।

डा० राममनोहर लोहिया भी धर्म और राजनीति का समन्वित उपयोग चाहते थे। उनके अनुसार धर्म है अच्छाई को करना और उसकी प्रशंसा करना तथा राजनीति है बुराई से लड़ना और उसकी निन्दा करना। इसलिये वे कहते थे कि राजनीति के बिना धर्म निष्प्राण हो जाता है तथा धर्म के बिना राजनीति कलही बन जाती है। धर्म को लोहिया 'दीर्घकालीन राजनीति' तथा राजनीति को 'अल्पकालीन धर्म' कहते थे।

सत्य

महात्मा गांधी सत्य को ही ईश्वर मानते थे, अतः उनके विचार से पूर्ण सत्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना ही सबसे बड़ा धर्म है। वे जीवन भर सत्यरूपी ईश्वर की प्राप्ति के लिये ही प्रयत्न करते रहे। कभी-कभी जब महात्मा जी ने अपनी कोई मानवीय दुर्बलता स्वीकार की तो कुछ श्रद्धालुओं ने उनसे अनुरोध किया कि वे ऐसी बातों का अनावश्यक प्रकाशन न करें जिससे उनके लाखों अनुयायियों का साधना के कठिन मार्ग पर चलने का साहस बना रहे और वे अनुभव करें कि कोई तो ऐसा है जिससे इस मार्ग पर भूल नहीं होती। इसके उत्तर में गांधी जी ने कहा था कि अपने से दोष होते हुए भी उसे छिपाने से सत्य का प्रकाश धुंधला पड़ता है। एक भूल भरे मनुष्य को भूल न करने वाला समझने से लोगों को लाभ नहीं, हानि होगी। वे मानते थे कि पाप कोई सात तालों के अन्दर बैठकर कितने ही गुप्त रूप से करे, उसका सूक्ष्म प्रभाव समाज पर दूर तक पड़े बिना नहीं रहता।

दीनदयाल जी सत्य को धर्म का एक आवश्यक अंग मानते थे। उनका विचार था कि समाज में यदि सत्यनिष्ठा न रहे तो उसकी ठीक से धारणा नहीं हो सकती। यदि लोग परस्पर सत्य व्यवहार न करें तो कोई भी किसी का विश्वास नहीं करेगा तथा समाज विशृंखलित हो जायेगा। तथापि उनकी दृष्टि में प्राथमिक महत्व धर्म का, अर्थात् प्रजा या समाज की धारणा होने—उसके सुरक्षित रहने—का था। सत्यवादिता को वे महत्व देते थे, जहाँ तक वह इस उद्देश्य में सहायक हो।

गांधी जी में तत्त्व की सूक्ष्मता को समझने की इच्छा थी, परन्तु सूक्ष्मदर्शी मेधा नहीं थी। वे विचारशील थे, मेधावी नहीं। दीनदयाल जी में सूक्ष्मग्राही मेधा थी, परन्तु वे सैद्धान्तिक सूक्ष्मता को व्यावहारिक स्थूलता से सन्तुलित रखना चाहते थे, अतः उनके तत्त्वदर्शन में कहीं-कहीं उपयोगितावाद की झलक मिलती है। वे भी सत्य को मानव-कृत व्यवस्था नहीं, प्राकृतिक विधान मानते थे, परन्तु प्रकृति का हर विधान उनके लिये गणित के अटल नियम जैसा कट्टर सिद्धान्त नहीं था। जीवधारियों के स्वभाव तथा मानव की सामाजिकता को भी वे प्राकृतिक विधान के ही अन्तर्गत समझते थे, अर्थात् उनके लिये प्रकृति के नियम केवल भौतिकी और रसायनशास्त्र के नियम ही नहीं थे, अपितु जीव विज्ञान, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के नियमों को भी वे प्राकृतिक विधान का ही सम्मान और स्तर प्रदान करते थे। इन क्षेत्रों में नियमों में कुछ न कुछ लोच या सचलता तो है ही, अतः दीनदयाल जी सरेभावण को सामाजिक सुव्यवस्था के लिये आवश्यक तो मानते थे, परन्तु उनकी दृष्टि में यही परम पुरुषार्थ नहीं था। उनकी दृष्टि से सत्यवादिता

वहीं तक उचित है, जहाँ तक वह समाज या मानवता के हित में हो। दूसरे शब्दों में, सत्य के महत्व के संबंध में जहाँ दीनदयाल जी का दृष्टिकोण उपयोगितावादी है, वहाँ गांधी जी का दृष्टिकोण परमार्थवादी। गांधी जी आत्मवादी थे, दीनदयाल जी मानववादी।

डा० राममनोहर लोहिया के लिये सत्य का महत्व उसके आध्यात्मिक मूल्य के कारण नहीं, समाज की सुव्यवस्था के लिये था। छल-कपट की राजनीति से तो उन्हें अरुचि थी ही, वे आलस्य, कर्तव्यनिष्ठा के अभाव और निकम्मेपनको भी असत्य से जुड़ा हुआ तथा सामाजिक प्रगति का रोड़ा मानते थे। डा० लोहिया समानता पर आधारित सामाजिक न्याय में विश्वास रखते थे। दो भिन्न व्यवसाय वाले व्यक्तियों को अपना-अपना काम ठीक से करने पर समान पारिश्रमिक देने में न्याय हो सकता है, परन्तु एक ही काम में लगे एक परिश्रमी और दूसरे कामचोर में पारिश्रमिक का बराबर वितरण तो न्याय नहीं है। सम्भवतः इसी कारण लोहिया के लिये निष्ठापूर्वक कार्य करने को सत्याचरण मानना और सत्य को सामाजिक प्रगति का आधार स्वीकार करना आवश्यक था। समाजवाद निकम्मे लोगों के बल पर नहीं चल सकता।

सत्याग्रह

महात्मा गांधी हर प्रकार के शिव तत्त्व अर्थात् अच्छी बात या वस्तु को सत्य के अन्तर्गत मानते थे, अतः अशिव या बुराई के विरुद्ध अटल रहने को उन्होंने सत्याग्रह नाम दिया। वे सत्य और अहिंसा का संबंध अटूट मानते थे, अतः अन्याय का अहिंसक विरोध करने का उनका मार्ग सत्याग्रह के नाम से प्रसिद्ध हो गया। उनकी यह पद्धति लोहिया जी और दीनदयाल जी ने भी स्वीकार की, परन्तु अहिंसा के प्रति गांधी जी जैसी आत्यन्तिकी श्रद्धा इन दोनों में नहीं थी। गांधी जी का कहना था कि सत्याग्रही को स्वयं ही कष्ट सहन करके विपक्षी का हृदय-परिवर्तन करना चाहिए और उसे किसी प्रकार की हानि पहुँचाने की बात मन में भी नहीं लानी चाहिए। ऐसी स्थिति में सत्याग्रही का दृष्टिकोण यदि गलत बात पर भी आधारित हुआ तो उसके कार्य से अकेला वही कष्ट उठायेगा, कोई और नहीं।

अहिंसा

गांधी जी का बचपन वैष्णव सम्प्रदाय में आस्था रखने वाली उनकी माता से प्रभावित रहा और वयःसन्धि की अवस्था में शिक्षा-दीक्षा के लिये इंगलैंड के ईसाई समाज में रहते हुए अपने वैष्णव संस्कारों—उदाहरणार्थ मांस-मदिरा से दूर रहने के व्रत—के कारण वे वहां पर ईसाई समाज के अपेक्षाकृत धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों के अधिक निकट रहे। कोई आश्चर्य नहीं यदि गांधी जी के सौम्य वैष्णव संस्कारों वाले अन्तःकरण को ईसाई सम्प्रदाय की कुछ विनम्रतापूर्ण शिक्षाएं छूने में सफल रही हों। अहिंसा में गांधी जी की आस्था को इतना अधिक दृढ़ करने में उस परिवेश का अवश्य ही कुछ न कुछ हाथ रहा होगा, यद्यपि अहिंसा का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति के लिये भी विदेशी नहीं है। अष्टांग योग के प्रथम अंग 'यम' का भी प्रथम अवयव 'अहिंसा' है। अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः। गांधी जी पर ईसाई प्रभाव केवल इतना ही हो सकता है कि उनकी अहिंसा में सहिष्णुता के साथ स्वेच्छा से कष्ट उठाना और जुड़ गया। एक गाल पर कोई थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल आगे कर देने का सिद्धान्त ईसाई नीतिशास्त्र का है। परम्परागत भारतीय अहिंसा में सहिष्णुता हो सकती है, आत्मपीड़न नहीं हो सकता; उसमें आत्मरक्षा का भी महत्व है। और, गीता में तो सज्जनों की रक्षा के लिये यदि आवश्यक ही हो जाय तो दुर्जनों को मार देने का भी प्रावधान है। अतः भारतीय नीतिशास्त्र के सभी सिद्धान्तों को अहिंसा सहित स्वीकार करके भी आत्मरक्षा और धर्मरक्षा जैसे प्रश्नों पर दीनदयाल उपाध्याय गांधी जी से कुछ दूर हो जाते हैं। उनका प्रेरणास्रोत राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ रहा, जिसका निर्माण ही सब प्रकार की आपदाओं से अपनी रक्षा करने में समर्थ, सबल सांस्कृतिक राष्ट्र का उत्कर्ष करने की भावना से हुआ था।

वैसे, मूलतः भारतीय संस्कारों में पगे होने के कारण गांधी जी की अहिंसा भी दुर्बल या कायर की अहिंसा नहीं है। उनका कहना था कि सच्ची अहिंसा के लिये हिंसा से अधिक वीरता की आवश्यकता है। सत्य पर डटे रहकर तोप के मुंह पर भी बन्ध जाने के लिये तैयार

होना कोई साधारण साहस का कार्य नहीं है। गांधी जी का यह भी कहना था कि यदि हिंसा और कायरता में से किसी एक को चुनना पड़े तो मैं हिंसा को चुनूंगा। स्त्री के शील पर आक्रमण होने के स्थिति में तो गांधी जी का कहना था कि उसे हिंसा या अहिंसा का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। शस्त्र, नख, दांत जैसे हर संभव साधन से स्त्री को आततायी का सामना करना चाहिए। दीनदयाल जी गांधी जी से इस बात में भिन्न हैं कि उनके लिये आक्रान्ता आततायी का प्रतिरोध करने में इस बात का विचार करने की आवश्यकता नहीं है कि उसने अधर्मपूर्ण आक्रमण स्त्री पर किया है या पुरुष पर या कि राष्ट्र पर; आततायी तो आततायी है। डा० राममनोहर लोहिया ने गांधी जी में आस्था प्रकट करते हुए अहिंसा को सिद्धान्ततः तो स्वीकार किया, परन्तु केवल कर्म से ही नहीं, वाणी और मन से भी हिंसा से दूर रहने के गांधीवादी सिद्धान्त को उन्होंने कभी गम्भीरता से नहीं लिया। अपने विरोधियों के लिये कटु भाषा का प्रयोग करने से वे चूकते नहीं थे। डा० लोहिया की शिक्षा जर्मनी में पूरी हुई थी और मार्क्स का पर्याप्त प्रभाव उनके चिन्तन पर पड़ा था। वे वर्ग-संघर्ष में विश्वास रखते थे, जिससे प्रकट हिंसा नहीं भी तो कटुता का आना तो स्वाभाविक था।

तथापि, अहिंसा की सीमा के संबंध में कुछ विचारभेद होते हुए भी सिद्धान्ततः तीनों ही उससे सहमत थे। गांधी जी का चिन्तन तो था ही अहिंसामय, लोहिया ने वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त मानकर भी उसके लिये अहिंसात्मक उपाय ही अपनाना स्वीकार किया तथा दीनदयाल उपाध्याय ने डार्विन के जीवन-संघर्ष के सिद्धान्त अर्थात् बलवान द्वारा दुर्बल को हड़प लिये जाने के मात्स्य न्याय तथा हेगल के द्वन्द्ववाद और मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का प्रबल खण्डन किया। उनकी मान्यता थी कि प्रकृति का मौलिक विधान द्वन्द्व नहीं, परिपूरकता है; इसलिये सामाजिक न्याय का सिद्धान्त भी संघर्ष नहीं, परस्परानुकूलन ही हो सकता है। मात्स्य न्याय पशु-प्रवृत्ति है। संस्कृत समाज में दुर्बल को भी न केवल जीने का अधिकार है, अपितु यदि वह अपनी जीवनावश्यकता स्वयं जुटाने में समर्थ न हो—जैसे कि बच्चे, बूढ़े, रुग्ण और अपंग लोग होते हैं—तो उसके भी पोषण का दायित्व समाज पर है। हिंसा का समर्थन दीनदयाल जी ने उसके विरुद्ध किया, जो सबके स्वतन्त्रता और सम्मानपूर्वक जीने के मानवीय न्याय को मिटाने का प्रयास करता है।

व्यक्ति

गांधी जी पूर्ण नैतिकतावादी, स्वधर्मरत व्यक्ति के निर्माण में व्यस्त रहे, जिसके समक्ष सदैव मोक्ष का लक्ष्य हो। वे धन-सम्पत्ति के स्थान पर तप-त्याग की प्रतिष्ठा चाहते थे तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के प्रबल समर्थक थे। वे ऐसा समन्वित मानव चाहते थे, जिसमें आत्मा, बुद्धि, मन और देह सभी की पवित्रता का विकास हो। कार्य-व्यवसाय के आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति में छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का भेद वे नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में हर व्यक्ति का कार्य समान रूप से महत्वपूर्ण है और इसलिये जीवनावश्यकताओं का वितरण भी सभी में समान रूप से होना चाहिए। सुख-सुविधा के लिये एक दूसरे का व्यवसाय हथियाने की इच्छा को वे अनुचित समझते थे तथा मानते थे कि अपने ही पैतृक व्यवसाय के साथ स्वधर्म पर दृढ़ रहकर निष्काम कर्म करते हुए हर व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करने का समान रूप से अधिकारी है।

डा० राममनोहर लोहिया व्यक्ति के शरीर और मन, दोनों की आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक समझते थे। उनका कहना था कि पेट के ही समान मन भी महत्वपूर्ण है, उसे ठीक किये बिना केवल पेट की बात करना नादानी है। मस्तिष्क को वे खुला और उदार रखे जाने के समर्थक थे। वे व्यक्ति-व्यक्ति की समानता में विश्वास रखते थे तथा समानता की स्थापना के लिये राजकीय नियंत्रण के पक्ष में थे। मानव की जैविक दुर्बलताओं को वे स्वाभाविक मानते थे तथा प्रकटतः भौतिकवादी होने के कारण महात्मा गांधी के से आध्यात्मिक जीवन-मूल्यों में विश्वास का प्रश्न उनके समक्ष नहीं था।

पं० दीनदयालु उपाध्याय सम्पूर्ण मानव में विश्वास रखते थे, जिसके व्यक्तित्व में शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा—चारों का एकात्मक, समन्वित विकास हो। जीव की मनोदैहिक क्षुधाओं या आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में 'मूल प्रवृत्तियों' को वे प्रकृति कहते थे। पशु और मनुष्य

दोनों में ही प्रकृति से मनोदैहिक स्वार्थ विद्यमान अवश्य है, परन्तु मनुष्य की विशेषता ही यही है कि वह विवेक-शील जीव होने के कारण प्रकृति को सुसंस्कारित करके स्वयं ही नहीं, अपितु दूसरों को भी सुखी बनाने की संस्कृति का विकास करे। इसके विपरीत अपने स्वार्थ के लिये दूसरों से संघर्ष को दीनदयाल जी विकृति मानते थे। संक्षेप में—भूख लगने पर भोजन करना प्रकृति है, दूसरों के साथ बांटकर खाना संस्कृति है तथा दूसरे से छीनकर खाना विकृति है। व्यक्ति के समग्र विकास तथा समाज के साथ पूर्ण अनुकूलन के लिये उन्होंने एकात्म मानववाद का सिद्धान्त दिया, जिसका अर्थ संक्षेप में यह है कि मानव अपने व्यक्तित्व के सभी पक्षों के साथ तथा सम्पूर्ण समाज के साथ एकात्म है।

समाज

डा० राममनोहर लोहिया समाजवादी थे। वे ऐसा समाज चाहते थे जिसमें सब समान हों, किसी प्रकार का ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, स्त्री-पुरुष का भेदभाव न हो। किसी प्रकार का शोषण और अन्याय न हो। अपनी कल्पना का ऐसा समाज वे राज्य के नियंत्रण द्वारा निर्मित करना चाहते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु लोकतान्त्रिक पद्धति से राज्य-सत्ता पर अधिकार करना और जब तक वह न प्राप्त हो, तब तक असहयोगपूर्ण सत्याग्रह जैसे साधनों के द्वारा राज्य पर दबाव डालना उनकी नीति थी। वर्तमान असमानता को दूर करने के लिये उन्होंने सात क्रान्तियों का प्रस्ताव किया। वे हैं — (१) आर्थिक विषमता की समाप्ति, (२) साम्राज्यवाद की समाप्ति, (३) स्त्री-पुरुष-समानता, (४) जातिभेद की समाप्ति, (५) निरंकुश राज्य की समाप्ति, (६) निर-स्त्रीकरण, (७) राष्ट्र-भेद की समाप्ति।

पं० दीनदयाल उपाध्याय ऐसा समाज चाहते थे जिसमें सामाजिक संबंधों का आधार परस्परानुकूलता हो, अर्थात् जिसमें लोग एक दूसरे की आवश्यकताओं का और एक-दूसरे की भलाई का ध्यान रखें। कोई भी आत्मकेन्द्रित न हो, हर व्यक्ति सबके हित की बात सोचे। सबके हित के साथ ही अपने हित को जोड़ कर रखे, ताकि जब सबका हित हो तो उसी में से उसे अपना भाग मिले। अलग से अपना हित किसी का न हो। उनके एकात्म मानववाद का सामाजिक अभिप्रेतार्थ ही यह है कि सब कुछ एक ही आत्मा की अभिव्यक्ति है—सम्पूर्ण मानव समुदाय एकात्म है, अतः यहाँ सभी कुछ सबका साझा है। अपना अलग से किसी का कुछ भी नहीं है। यह शरीर या यह जीवन भी अकेले अपना नहीं है। व्यक्ति अपने जन्म के लिये ऋणी होता है, अपने रक्षण के लिये, पोषण के लिये, शिक्षण के लिये वह अन्यान्य लोगों का ऋणी होता है। और यह ऋण भी केवल माता-पिता का ही नहीं, सम्पूर्ण समाज का ऋण होता है। हमें जो कुछ प्राप्त होता है, बचपन में या बड़े होकर स्वकीय उपार्जन से भी, उसके स्रोतों का यदि अनुसंधान करने चलें तो शाखा-प्रशाखाओं से होते हुए किसी न किसी रूप में सभी का उसमें योगदान होगा। इसलिये दीनदयाल जी ऐसे समाज के निर्माण के लिये प्रयत्नशील रहे, जिसमें व्यक्ति समष्टिपरायण हो। लोग परस्परानुकूल हों। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये लोक-शिक्षण अर्थात् संगठन और प्रशिक्षण द्वारा वे राष्ट्र की 'चिति' को जाग्रत करना चाहते थे।

महात्मा गांधी ऐसा समाज चाहते थे जहाँ सब अपने-अपने कर्तव्य का पालन करें और अपने कर्तव्य या 'स्वधर्म' का ठीक से पालन करने पर सबको जीवन की समान सुविधाएं मिलें। वे किसी के भी काम का कम या अधिक मूल्यांकन किया जाना अनुचित समझते थे, परन्तु वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता के प्रबल समर्थक थे। राज्य को वे एक हिंसक संस्था मानते थे, अतः राजकीय नियंत्रण से होने वाली समाज-व्यवस्था उन्हें स्वीकार्य नहीं थी। अपनी परिकल्पना का समाज वे लोकशिक्षण द्वारा जन-जागृति उत्पन्न करके ही निर्मित करना चाहते थे।

गांधी जी ने जैसे ध्येयनिष्ठ, स्वधर्मरत, स्पर्धारहित समाज की कल्पना की थी, उसके लिये उन्होंने आदर्श वर्ण-व्यवस्था को सबसे उपयुक्त माना। उनका विचार था कि वर्ण-व्यवस्था में मिथ्या दम्भ और ऊँच-नीच का विकार कालान्तर में आ गया, परन्तु अपने शुद्ध रूप में वह आदर्श समाज-व्यवस्था है।

इसके विपरीत डा० लोहिया का मानना था कि वर्ण-

व्यवस्था ही सामाजिक विषमता की जड़ है, अतः वे अपनी मान्यता के वर्ग-संघर्ष को वर्ण-वैषम्य का भी पर्याय मानते थे। वर्ण-व्यवस्था को उन्होंने जातिवाद के रूप में भी देखा और जातिवाद के विरुद्ध इतना प्रचार किया कि शायद प्रकारान्तर से उससे जातिवाद को बढ़ावा ही मिला, क्योंकि जो लोग जातीय दृष्टिकोण से नहीं भी सोचते थे, बार-बार उसके बारे में सुनकर जातीय आधार पर सोचने लगे। अतः लोहिया के इस जाति-वाद-विरोध को यदि विरोध-भक्ति कहा जाय तो अनुचित न होगा। कहा जाता है कि विरोधी भावना से भी जिसका अतिशय ध्यान किया जाता है, अन्ततः उसी की प्राप्ति होती है, और आज हम देख रहे हैं कि लोहिया से प्रभावित क्षेत्रों में अग्रगण्य बिहार जातिवाद में सबसे आगे है।

पं० दीनदयाल उपाध्याय का मत था कि संस्कृति कोई जड़ वस्तु नहीं, एक गतिमान तत्त्व है, अतः समय के साथ सामाजिक संस्थाओं में कुछ परिवर्तन होना स्वाभाविक है। बीते युग में समाज की जो व्यवस्था श्रेष्ठ थी, यह आवश्यक नहीं कि आज भी वह वैसी ही उपयुक्त हो। अतः सामाजिक परिस्थितियों को देखते हुए हमें काल-बाह्य रूढ़ियों को छोड़ते चलना चाहिए और युगानुकूल व्यवस्था विकसित करनी चाहिए। दीनदयाल जी का कहना था कि शाश्वत सत्यों की ही सदैव रक्षा होनी चाहिए, परिस्थिति विशेष से संबद्ध बाह्य रूप में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है।

अर्थ

गांधी, लोहिया और दीनदयाल तीनों इस बात पर एकमत थे कि किसी अन्य देश में वहाँ की विशेष परिस्थिति के अनुसार विकसित हुई अर्थनीति का भारत में ज्यों का त्यों अनुकरण उचित नहीं है। हमारी अपनी विशेष परिस्थितियाँ हैं, जिनके अनुसार हमें अपनी नीति निर्धारित करनी चाहिए। डा० राममनोहर लोहिया सम्पत्ति की प्रचुरता और उसका न्यायपूर्ण वितरण—दोनों आवश्यक मानते थे। ऐसे न्यायपूर्ण वितरण को उन्होंने व्यर्थ बताया, जिससे निर्धन की स्थिति पर प्रभावकारी अन्तर ही न पड़े। अतः न्याय से भी पहले सम्पत्ति बढ़ाना और सम्पत्ति बढ़ाने के लिये धनिकवर्ग के व्ययों पर अंकुश लगाकर बचत की संचित पूंजी का विनियोग वे उत्पादन तथा आजीविका के अवसर बढ़ाने वाले औद्योगीकरण में करना चाहते थे। भौतिकवादी होने के कारण उनके लिये धन-सम्पत्ति की वृद्धि का ही विशेष महत्व था, गांधी जी के समान औद्योगीकरण के विरुद्ध कोई आध्यात्मिक कारण उनके समक्ष नहीं थे। फिर भी आजीविका की अधिकाधिक व्यवस्था के लिये लघु और ग्रामीण उद्योगों का महत्व वे भी स्वीकार करते थे।

मुक्त अर्थव्यवस्था के समर्थकों का प्रायः तर्क हुआ करता है कि बिखरा धन निष्प्रभाव हो जाता है, जबकि उद्यमियों के हाथों में केन्द्रित होकर पूंजी के रूप में विनियोजित होने से वह उत्पादन बढ़ाने और श्रमिकों के लिये आजीविका जुटाने में प्रयुक्त होता है। लोहिया का कथन था कि यदि ऐसा होता तो सम्पत्ति के प्राचुर्य के लिये वे इस सिद्धान्त को मान लेते, परन्तु व्यक्तिगत हाथों में केन्द्रित हुआ धन भोग-विलास या खपत के आधुनिकीकरण पर व्यय कर दिया जाता है जिससे उत्पादन या आजीविका के अवसर नहीं बढ़ते। अतः व्यय की सीमा पर अंकुश लगाना और प्रभूत उत्पादन के साधनभूत उद्योगों का सामाजिक नियंत्रण में अर्थात् राज्य के हाथ में होना आवश्यक है। संक्षेप में, साधन जुटाने के लिये व्ययनियंत्रण, उत्पादन बढ़ाने के लिये औद्योगीकरण तथा समवितरण के लिये राष्ट्रीयकरण, ये डा० लोहिया की अर्थ-नीति के तीन प्रमुख आयाम हैं।

महात्मा गांधी को दैत्याकार यंत्रों में मानव की स्वतंत्रता और आजीविका का शत्रु दृष्टिगोचर होता था। महानगरीय सभ्यता में वे मानवता की मृत्यु देखते थे। वे भोग-विलास के लिये सम्पत्ति की प्रचुरता नहीं, सबकी जीवनावश्यकताओं की पूर्ति के साधन चाहते थे, अतः उन्होंने हस्तशिल्प, कुटीर-उद्योग और कृषि की ग्रामाधारित अर्थव्यवस्था का प्रतिपादन किया। फिर भी वे यन्त्रों के नहीं, उनसे मानव को होने वाली हानियों के ही विरोधी थे। श्रमिक को श्रम में सुविधा प्रदान करने वाले और उसकी आय बढ़ाने वाले सिलाई यंत्र जैसे छोटे यंत्रों का उन्होंने समर्थन किया था। यंत्रकृत हानि से उनका अभिप्राय था—बेकारी बढ़ाना या मनुष्य की

परिश्रमशीलता समाप्त करके उसे आलसी और जड़ बनाना अथवा विलासी बनाना या मनुष्य की स्वतंत्रता छीनना। जो यंत्र इनमें से एक भी हानि करता है, उसके गांधी जी विरोधी थे।

भारत जैसे देश में, जहाँ काम करने योग्य हाथ बड़ी संख्या में हैं और आजीविका प्रदान करने वाले साधन सीमित, गांधी जी ने विश्वभर में विख्यात भारत के प्राचीन हथकरघा उद्योग को पुनर्जीवित करने की इच्छा से चरखे को अपनाया और सभी भारतीयों के लिये कताई का काम आवश्यक बताया। सिद्धान्त और उपयोगिता, दोनों ही दृष्टियों से यह आह्वान महत्वपूर्ण था। सिद्धान्त था—स्वदेशी, स्वावलम्बन और आत्मसम्मान, तथा उपयोगिता थी – आजीविका या खाली समय के लाभदायक उपयोग की। चरखा प्रतीक है स्वदेशी साधनों के द्वारा आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करने तथा अर्थ-व्यवस्था के विकेन्द्रीकरण का, परन्तु उसे द्विजों के गायत्री मन्त्र जैसा अपरिहार्य समझ लेना कि भारत के प्रधानमंत्री जैसा व्यस्त व्यक्ति भी सूत अवश्य ही काते, बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं जान पड़ता, क्योंकि कृषि, पशुपालन, काष्ठशिल्प, चर्मशिल्प, लौहशिल्प, रस्सी बटने, कुम्भकारी, ताम्र-कांस्यादि के बर्तन बनाने आदि जैसे अनेकानेक परम्परागत कार्य और हस्तशिल्प हैं, जिन्हें आजीविका के लिये अपनाना उसी प्रकार सुसंगत है, जैसा कि चरखे को अपनाना।

गांधीजी की दृष्टि में जीवन का लक्ष्य भोग नहीं, मोक्ष है, अतः उन्होंने व्यवसाय की स्पर्धा को अनुचित ठहराते हुए आजीविका के लिये वर्ण-व्यवस्था के आधार पर पैतृक व्यवसाय अंगीकार करने को ही आदर्श सामाजिक अर्थव्यवस्था माना। कार्य को वे छोटा-बड़ा नहीं मानते थे, अतः सबको न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति-योग्य पारिश्रमिक का सिद्धान्त उन्होंने दिया।

ईशावास्य उपनिषद् के प्रथम मंत्र के अनुसार वे मानते थे कि सम्पूर्ण चराचर जगत् ईश्वर का वास-स्थान है, अतः लोभ नहीं करना चाहिए। अपनी आवश्यकता के अनुसार ही ग्रहण करके शेष उस ईश्वर की वस्त उसी के लिये छोड़ देनी चाहिए। गांधी जी के इस दृष्टिकोण का एक रोचक उदाहरण है : एक बार गांधी जी प्रयाग में आनन्दभवन में ठहरे थे। प्रातःकाल जवाहरलाल जी एक बड़े लोटे में पानी लेकर गांधी जी के हाथ-मुंह धुलवा रहे थे। साथ ही दोनों में कुछ चर्चा भी चल रही थी। गांधी जी पूरी धुलाई नहीं कर पाये थे और लोटे का पानी समाप्त हो गया तो वे बड़े दुःखी हुए कि प्रमादवश उन्होंने अपना कार्य पूरा नहीं किया और पानी समाप्त हो गया। इस पर नेहरू जी ने कहा—बापू आप पानी के लिये क्यों चिन्तित होते हैं ? इलाहाबाद में तो गंगा और यमुना दोनों बहती हैं। इस पर गांधी जी बोले—गंगा-यमुना बहती हैं तो उसमें मेरा क्या है ? वह पानी प्रकृति का है। मुझे तो अपनी आवश्यकता के अनुसार ही ग्रहण करना चाहिए।

दीनदयाल जी का विचार था कि प्रकृति से मनुष्य को उतना ही ग्रहण करना चाहिए, जितना परिपूरकता के प्राकृतिक चक्र से पूरा भी हो सके। उदाहरणार्थ—उतनी ही जलानी चाहिए, जितने नये वृक्ष उग सकें। पृथिवी पर भौतिक संसाधनों की एक सीमा है, अतः मर्यादा से अधिक दोहन का अर्थ है संकट को निमंत्रण।

दीनदयालजी के अनुसार आर्थिक लक्ष्य

दीनदयाल जी के मतानुसार जैसे मानव-शरीर में प्राण के उत्तम संचार और नीरोगिता के लिये प्राणायाम का महत्व है, वैसे ही समाज में आर्थिक सुव्यवस्था के लिये अर्थायाम आवश्यक है। श्वास-प्रश्वास के असन्तुलन के समान अर्थ का अभाव और प्रभाव, दोनों हानिकारक हैं। जैसे दरिद्रता हानिकारक है, वैसे ही धनलोलुपता तथा समाज के उचितानुचित का विचार किये बिना धनसंग्रह को सम्मान की दृष्टि से देखना भी समाज के लिये हानिकारक है। उनके विचार से भारत में आर्थिक लक्ष्य का निर्धारण तीन बातों पर आधारित होना चाहिए—

(१) बड़े प्रयत्नों के बाद प्राप्त हुई राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा का सामर्थ्य उत्पन्न करना।

(२) आर्थिक समृद्धि के ऐसे कार्यक्रम स्वीकार करना, जो हमारे द्वारा अंगीकृत प्रजातान्त्रिक पद्धति के प्रतिकूल न हों।

(३) केवल ऐसे आर्थिक कार्यक्रम स्वीकार करना, जो हमारे सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों के विपरीत न हों। संस्कृति को गँवाकर अर्थार्जन करना निरर्थक ही नहीं, अनर्थकारी भी होगा।

ये तीनों मर्यादाएं पैरों की बेड़ियाँ नहीं, मार्ग के संबल हैं। इन भावनाओं का सही उपयोग करने से राष्ट्र के सामूहिक प्रयत्नों को भारी बल मिलेगा। यदि कल की सम्पन्नता के लिये आज कष्ट उठाने हैं तो उसके लिये मन की तैयारी इन भावनाओं से ही हो सकती है।

प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिये सैनिक सामर्थ्य में आत्म-निर्भरता होनी चाहिए, जिसके लिये आवश्यक उद्योगों का राजकीय क्षेत्र में विकास किया जाय।

स्वतन्त्रता की रक्षा की इच्छा बनाये रखने के लिये स्वाभिमान की रक्षा आवश्यक है और स्वाभिमान की रक्षा के लिये आर्थिक आत्मनिर्भरता आवश्यक है। आर्थिक आत्मनिर्भरता के लिये स्वदेशी साधनों पर निर्भर योजना का निर्माण आवश्यक है।

भीष्म ने भी कहा है—अर्थस्य पुरुषो दासः। आर्थिक पराधीनता से मनुष्य की स्वतन्त्रता छिन जाती है, अतः व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिये आर्थिक स्वतन्त्रता आवश्यक है। आर्थिक स्वतन्त्रता के लिये उत्पादन और उपभोग का अधिकार आवश्यक है। जैसे प्रत्येक को मतदान का अधिकार राजनीतिक प्रजातंत्र के लिये आवश्यक है, वैसे ही प्रत्येक को उत्पादन करने अर्थात् काम करने का अधिकार आर्थिक प्रजातंत्र के लिये भी आवश्यक है, क्योंकि उत्पादन उपभोग की पात्रता सिद्ध करता है। परन्तु, जैसे कम्युनिस्ट प्रणाली का मताधिकार कोई प्रजातान्त्रिक अधिकार नहीं है, क्योंकि उस मतदान में चुनाव करने की कोई स्वतंत्रता नहीं है, उसी प्रकार आर्थिक प्रजातंत्र के अधिकार का अर्थ 'बंधुवा मजदूरी' नहीं है। काम पाने की ही नहीं, उसे चुनने की भी स्वतन्त्रता होनी चाहिए, साथ ही उसे जीविकोपार्जन के लिये पर्याप्त भी होना चाहिए। काम के बदले राष्ट्रीय आय का न्यायोचित भाग यदि नहीं मिलता तो उसकी गणना भी 'बेगार' में होगी। व्यक्ति सदैव काम नहीं कर सकता। बालक, वृद्ध, रोगी और अपंग को उत्पादन में असमर्थ होते हुए भी खाने का अधिकार है।

उत्पादन और उपभोग के अधिकार ही नहीं, मर्यादाएं भी हैं। एक का उत्पादन का अधिकार दूसरे को उपभोग के अधिकार से वंचित करने का अधिकारी नहीं है। बड़े उद्योग छोटे उद्योगों को या कारखाने हस्तशिल्प को यदि नष्ट करते हों तो उनपर सीमाएं लगाना आवश्यक है।

आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण चाहे राज्य के हाथ में हो या व्यक्ति के हाथ में, आर्थिक प्रजातन्त्र को नष्ट करता है। अर्थव्यवस्था विकेन्द्रित होनी चाहिए।

तीसरा आधार है सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों का। अर्थ-व्यवस्था भारत के सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों के विपरीत नहीं होनी चाहिए। पूंजीवाद ने अर्थपिपासु मानव को और साम्यवाद ने रक्तपिपासु मानव को जन्म दिया है, जबकि मानव का वास्तविक स्वरूप एकात्मवादी है। उसकी आवश्यकताएं भौतिक भी हैं तो आध्यात्मिक भी; व्यक्तिगत भी हैं तो समष्टिगत भी। आर्थिक उद्देश्यों सहित हमारे सभी उद्देश्य मानव को मानवीय पूर्णता प्रदान करने वाले होने चाहिए। उसके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हो सके तथा सम्पूर्ण मानवता के प्रति उसमें आत्मीय भावना का भी विकास हो सके। प्रौद्योगिक व्यवस्था में भयानक आकार वाले विशालकाय यंत्रों के बीच कार्य करने वाला व्यक्ति उन्हीं यंत्रों का एक लघु उपकरण सा बन जाता है, उसकी मानवीय संवेदन-शीलता लुप्त हो जाती है; वह यंत्र का स्वामी नहीं, दास बन जाता है। अर्थव्यवस्था में यंत्र का प्रयोग उसी सीमा तक होना चाहिए जिस सीमा तक वह व्यक्ति की स्वाधीनता न छीने, उसकी मानवीय संवेदनशीलता का हरण न करे और केवल उसका सहायक ही बना रहे, स्वामी या प्रतिस्पर्धी न बने।

भारत में जनाधिक्य को देखते हुए व्यक्ति का उपभोग और उत्पादन का अधिकार पूरा करने के लिये तथा उसे पूर्ण मानव के लक्ष्य की ओर बढ़ाने के लिये भी अर्थव्यवस्था का विकेन्द्रीकरण—छोटे तथा ग्रामीण उद्योगों, कृषि तथा हस्तशिल्प का विकास करना आवश्यक है।

संक्षेप में, राष्ट्रीय सुरक्षा, पूर्ण आजीविका, न्यूनतम उपभोग की आश्वस्ति तथा विकेन्द्रीकरण हमारे आर्थिक कार्यक्रम के आधारभूत लक्ष्य हो सकते हैं।

न्यासीभाव और यज्ञ

समाज में आर्थिक न्याय की स्थापना में इन तीनों नेताओं का विश्वास था, परन्तु उपायों के संबंध में कुछ विचार-भेद भी था। व्यक्तिस्वातन्त्र्य के महत्व को ध्यान में रखते हुए गांधीजी और दीनदयाल जी ने आर्थिक शक्ति का राज्य या व्यक्ति में से किसी के भी हाथों में केन्द्रित होना अनुचित बताया। वर्ग-संघर्ष को दोनों ही अनुचित समझते थे। गांधी जी ने वर्ग-संघर्ष को भारत की मूल प्रकृति के विरुद्ध और दीनदयाल जी ने सम्पूर्ण मानवता की ही प्रकृति के विरुद्ध बताया। गांधी जी ने ईशावास्य उपनिषद् के अनुसार त्याग की भावना पर बल दिया। धनपतियों को अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं से अतिरिक्त धन का, संरक्षक की भावना से सार्वजनिक हित में उपयोग करना चाहिए—यह नैतिक कर्तव्य उन्होंने निश्चित किया। गांधी जी और दीनदयाल जी, दोनों के ही विचारों पर गीता का बहुत प्रभाव था। गांधी जी मोक्षवादी थे, इसलिये उन्हें गीता के असंग या अनासक्ति के विचार ने अधिक प्रभावित किया और उन्होंने सर्वत्र त्याग पर बल दिया। दीनदयाल जी धर्मवादी थे, अतः उन्होंने आर्थिक संबंधों में यज्ञभाव पर बल देकर त्याग के स्थान पर पारस्परिक भावना और नैतिकता के स्थान पर श्रद्धा की स्थापना की। यज्ञ का अर्थ है—दूसरे की तृप्ति के लिये हविष्य अर्पित करना। कल्प के प्रारम्भ में प्रजापति ने विधान किया कि मनुष्य देवों की तृप्ति के लिये यज्ञ करें और देवगण मनुष्य को उनके इच्छित वैभव प्रदान करें। इस प्रकार पारस्परिक भावना से दोनों का ही कल्याण हो। दीनदयाल जी सामाजिक निर्वाह और सबकी उन्नति के लिये मानव-समाज में भी इसी यज्ञ और परस्परानुकूलता की भावना का विस्तार करना चाहते थे। वे कहते थे मनुष्य को केवल यज्ञशेष ही प्रसाद के रूप में ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् अपनी उपलब्धि में से दूसरों को भाग अर्पित करके शेष का उपभोग करना चाहिए। अर्थव्यवस्था के सभी पक्षों में इसी यज्ञसिद्धान्त का विस्तार करते हुए दीनदयाल जी कहते थे कि करदाताओं को राज्य-कोष में देय कर राष्ट्र देवता के लिये हविष्य समझकर यज्ञभाव से अर्पित करना चाहिए।

विचार करें तो ज्ञात होगा कि दीनदयाल जी की यज्ञशेष-ग्रहण की परिकल्पना गांधीजी के संरक्षकता के सिद्धान्त का शास्त्रीय संस्करण है। भारतीय संस्कारों से अनुप्राणित व्यक्ति के लिये स्वार्जित सम्पत्ति का संरक्षक या न्यासी बनने की अपेक्षा उससे यजकर्त्ता बनने में अधिक भावनात्मक आकर्षण है। गांधी जी की भारत से प्रारम्भ हुई शिक्षा के इंगलैण्ड में पूरा होने और दीनदयाल जी की सामाजिक शिक्षा रा० स्व० संघ में सम्पन्न होने का कदाचित् यह प्रभाव था कि लगभग एक सी बात के लिये जहाँ गांधी जी ने आधुनिक शब्द "ट्रस्टीशिप" चुना, वहाँ दीनदयाल जी ने इसे शास्त्रीय "यज्ञ" संज्ञा दी।

निजी सम्पत्ति और सम्पत्ति-मोह—दोनों की समाप्ति

डा० राममनोहर लोहिया अपने से अपेक्षाकृत कम आयु के पं० दीनदयाल उपाध्याय के विचारों से कम और गांधी जी के विचारों से ही अधिक परिचित थे। उनका विचार था कि न तो भारतीयों का मोहमुक्ति का सिद्धान्त और न ही साम्यवादियों का निजी सम्पत्ति की वास्तविकता समाप्त करने का सिद्धान्त अकेले इस समस्या को हल कर सकता है। आर्थिक विषमता के नाश के लिये इन दोनों सिद्धान्तों का उपयोग किया जाना चाहिए, अर्थात् 'राष्ट्रीयकरण' के रूप में राज्य-शक्ति के द्वारा निजी सम्पत्ति की वास्तविकता बलपूर्वक समाप्त कर देने के साथ-साथ व्यक्ति के मन से सम्पत्ति का मोह मिटाने का भी प्रयास किया जाना चाहिए। इस प्रकार वे वर्ग-संघर्ष को हिंसारहित बनाकर सामाजिक न्याय को स्थायी बनाना चाहते थे।

अन्त्योदय

समाज में सबसे दीन-हीन व्यक्ति की दुर्दशा ने इन तीनों मनस्वियों को व्यथित किया। उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति को तीनों ने ही आर्थिक प्रगति का प्रथम सोपान माना। इन तीनों ने ही उसे "दरिद्रनारायण" की संज्ञा

देकर समाजनेताओं का आराध्य घोषित किया।

गांधी जी ने 'बाइबिल' के एक दृष्टान्त पर लिखी गयी रस्किन की पुस्तक 'अन्टू दिस लास्ट' (अन्तिम को भी) का उदाहरण देकर आर्थिक दृष्टि से अन्तिम व्यक्ति को भी औरों के बराबर भाग देने का प्रावधान किया और अपने इस सिद्धान्त को 'सर्वोदय' नाम दिया।

५० दीनदयाल उपाध्याय ने कहा कि आर्थिक प्रगति की माप समाज की सबसे ऊपर की सीढ़ी पर खड़े व्यक्ति से नहीं, सबसे नीचे के स्तर पर विद्यमान व्यक्ति से होगी। दूर के जिन गांवों में समय अचल खड़ा है, प्रगति का कोई सन्देश जहाँ नहीं पहुँचा, वहाँ रह रहे दीन-हीन, मैले-कुचैले अनिकेत दरिद्रनारायण को जब हम मानवीय जीवन-सुविधाएँ दे सकेंगे, तभी हमारा भ्रातृभाव प्रकट होगा।

डा० राममनोहर लोहिया भी जीवन भर इसी दलित, शोषित दरिद्रनारायण के आर्थिक-सामाजिक अधिकारों की लड़ाई लड़ते रहे।

राज्य और विकेन्द्रीकरण

दीनदयालजी राज्य को भी अर्थ पुरुषार्थ के ही अन्तर्गत गिनते थे। वे राज्य को सर्वोच्च महत्व दिये जाने के विरुद्ध थे और इसे अर्थ का प्रभाव मानते थे। परन्तु राज्य की उपेक्षा भी उन्हें स्वीकार्य नहीं थी, क्योंकि राज्य संस्था राष्ट्र की रक्षा के लिये निर्मित हुई है। उनका विचार था कि विगत में भारत के पराभव का कारण ही यही था कि आध्यात्मिकता से प्रभावित होकर लोगों ने राज्य की उपेक्षा की। दीनदयाल जी उसी राज्य को अच्छा समझते थे, जो राष्ट्र और धर्म की रक्षा में सहायक हो। उनका विचार था कि भारत जैसे विशाल देश में प्राचीन यूनान के नगर राज्यों जैसा प्रजा का प्रत्यक्ष शासन संभव नहीं है, अतः प्रजातान्त्रिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली के साथ ही साथ शासन के बहुत से कार्य, जो स्थानीय स्तर पर ही अधिक अच्छे प्रकार से सम्पन्न हो सकते हैं, उनके लिये पंचायत-प्रणाली की स्थानीय, स्वायत्तशासी संस्थाओं का गठन करके शासन-सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिए।

महात्मा गांधी राज्य को एक हिंसक संस्था मानते थे, अतः उनका विचार था कि वही राज्य सबसे अच्छा है जो कम से कम शासन करे। शक्ति का केन्द्रीकरण राज्य की निरंकुशता में वृद्धि और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का हनन करता है। गांधी जी व्यक्ति-स्वातंत्र्य के बहुत बड़े समर्थक थे, अतः वे शासन की शक्ति का अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण करके ग्राम-पंचायतों की व्यवस्था के द्वारा ग्राम-स्वराज्य की स्थापना चाहते थे।

डा० राममनोहर लोहिया सामाजिक-आर्थिक न्याय के लिये आर्थिक शक्ति राज्य के हाथों में देने के पक्षधर तो थे, परन्तु निरंकुश शासन उन्हें भी स्वीकार नहीं था और वे राजनीतिक-आर्थिक सत्ता को देश, प्रान्त, जिला तथा ग्राम स्तर पर बांटकर चौखम्भा समाजवाद की स्थापना करना चाहते थे।

राष्ट्र और चिति तथा विराट्

ये तीनों जन-नेता भारत की विशिष्ट परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही नीतियाँ निर्धारित करने के पक्ष में थे। वे यह भी मानते थे कि हर जाति या समाज की एक विशेष प्रकृति होती है। गांधी जी इसे उस समाज की मूल प्रकृति और दीनदयाल जी चिति कहते थे। दीनदयाल जी ने विचार व्यक्त किया कि चिति राष्ट्र का चेतन तत्त्व या आत्मा है। समाज की नैतिक मान्यताएं और जीवन-मूल्य उसकी चिति से ही विकसित होते हैं। चिति की अभिव्यक्ति ही संस्कृति है। चिति के विपरीत कार्यों में सफलता नहीं मिलती। किसी राष्ट्र के उत्कर्ष या ह्रास का कारण उसकी चिति के जाग्रत रहने या सुप्त हो जाने पर निर्भर है। चिति के जागरण से राष्ट्र का विराट् जाग्रत होता है, अर्थात् सारा राष्ट्र संगठित होकर शक्तिशाली बनता है, जबकि चिति के सो जाने से विराट् भी दुर्बल पड़ जाता है तथा राष्ट्र का पतन हो जाता है।

संस्कृति

स्वसंस्कृति के लिये इन तीनों नेताओं के हृदयों में गहरी

सहानुभूति थी। गांधी जी और दीनदयाल जी तो अपने मन, वचन, कर्म में भारतीयता से ओतप्रोत थे ही, परन्तु लोहियाजी ने भी अपने भौतिकवादी आग्रहों के उपरान्त राम, कृष्ण और शिव की जो व्याख्या की है, वह हृदय-स्पर्शी है। उनका कहना था कि इतिहास में ये तीनों सचमुच हुए हों या नहीं, इससे उन्हें कुछ लेना-देना नहीं, परन्तु भारतीय जन-मन में जिस रूप में ये बसे हुए हैं, वही इनकी बहुत बड़ी सार्थकता है। लोहिया जी ने राम, कृष्ण और शिव को मानव के तीन आदर्शों का प्रतिनिधि माना। उनके अनुसार वे भारत में पूर्णता के तीन महान स्वप्न हैं। राम की पूर्णता मर्यादित व्यक्तित्व में है, कृष्ण की उन्मुक्त या सम्पूर्ण व्यक्तित्व में और शिव की असीमित व्यक्तित्व में, किन्तु हर एक पूर्ण है। इसके साथ ही उन्होंने प्रार्थना की– 'हे भारत माता! हमें शिव का मस्तिष्क दो, कृष्ण का हृदय दो और राम का कर्म और वचन दो।' डा० लोहिया के इन शब्दों को पढ़कर श्री जवाहरलाल नेहरू के दाय-पत्र का स्मरण हो आता है, जिसमें उन्होंने गंगा के प्रति अपनी उदात्त भावनाएँ व्यक्त की हैं। भारतीय संस्कृति की यही महानता है कि बड़े से बड़ा बुद्धिवादी भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता।

महात्मा गांधी और दीनदयाल उपाध्याय से लोहिया इस बात में अलग हैं कि गांधी जी और दीनदयाल जी के हर विचार पर सांस्कृतिकता की छाप रहती थी, जबकि लोहिया संस्कृति का स्मरण यदा-कदा प्रसंगवश करते थे।

भारतीय संस्कृति से प्रेम रखते हुए भी संकीर्ण रूढ़िवादी इनमें से कोई नहीं था। गांधी जी चाहते थे कि उनके घर के पास सभी संस्कृतियों की वायु खुलकर बहे, यद्यपि वे स्वयं उनमें से किसी में बह जाने को तैयार नहीं थे। दीनदयाल जी का भी विचार था कि मानव जाति की बहुत सी बातें साझी हैं, अतः जहाँ भी सत्य है, वह यदि बाहर का है तो उसे देशानुकूल और प्राचीन है तो युगानुकूल ढालकर हमें प्रगति का विचार करना चाहिए। संस्कृति को वे सचेतन और गतिमान मानते थे तथा कालबाह्य रूढ़ियों को छोड़ने तथा संस्थाओं को युगानुरूप ढालने में विश्वास रखते थे। डा० लोहिया तो थे ही विश्वमानववादी।

गांधी जी और दीनदयाल जी स्वदेशी के प्रबल समर्थक थे और लोहिया जी भी विश्वनागरिकता की आकांक्षा के होते हुए भी स्वदेशप्रेमी थे।

राष्ट्रीय अखंडता

महात्मा गांधी, डा० लोहिया और दीनदयाल उपाध्याय, तीनों की अखण्ड भारत में आस्था सुविदित है। भारत के खण्डित हो जाने के बाद भी उन तीनों का विश्वास था कि भारत प्रकृति से एक है, अतः वह पुनः एक अवश्य होगा।

स्वभाषा

गांधी जी और दीनदयाल जी का विचार था कि विदेशी भाषा से राष्ट्रीय भावनाओं की सही अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इससे राष्ट्रात्मा का सही विकास नहीं हो सकता। डा० लोहिया भी अंग्रेजी को दासता का प्रतीक समझते थे। ये तीनों नेता इस बात पर एकमत थे कि अंग्रेजी को भारत में राजभाषा के पद से हटना चाहिए और भारत में सर्वाधिक बोली और समझी जाने के कारण हिन्दी को राष्ट्रीय सम्पर्क-सूत्र बनना चाहिए। अरबी-फारसी के प्रति झुकाव रखने वाले मुसलमानों की सुविधा के लिये गांधी जी और लोहिया जी उर्दू से प्रभावित हिन्दी का प्रयोग करते थे, जबकि पं० दीनदयाल उपाध्याय का अधिक ध्यान भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं को जोड़ने पर था। उनका विचार था कि सभी भारतीय भाषाएँ संस्कृत से शब्द ग्रहण करती हैं, अतः संस्कृतनिष्ठ हिन्दी सभी प्रान्तों के लिये अधिक सुग्राह्य होगी।

एक से अधिक व्यक्तियों में शत-प्रतिशत वैचारिक समानता तभी हो सकती है, जब या तो वे विचारहीन हों या विचारातीत। विचारशील व्यक्तियों के विचार पूर्णतः एक समान नहीं हो सकते। विचारहीनता और विचारातीत अवस्था के मध्य में एक ऐसी अवस्था होती है, जहाँ मतभेदों की संभावना सर्वाधिक रहती है। इस कोटि के लोग अपने दृष्टिकोण से अपना पक्ष तो अच्छी प्रकार से समझते हैं, परन्तु दूसरे के पक्ष को भी समझने का प्रयत्न करने की वैचारिक सहिष्णुता उनमें नहीं होती। ये

लोग प्रायः विवादप्रिय, लड़ाकू लोग होते हैं। विचारातीत अवस्था तो ज्ञान की पूर्णता में ही आ सकती है। जैसा कि योगदर्शन में बताया गया है—सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् (पा० यो० सू० ४/३१) जिसके चित्त के सभी मलावरण हट जाते हैं, उस योगी में ज्ञान की अनन्तता के कारण जानने योग्य बातें उसके लिये बहुत ही अल्प हो जाती हैं। यहाँ हम ऐसे किसी सर्व ज्ञताप्राप्त लोकोत्तर पुरुष की चर्चा नहीं कर रहे हैं। परन्तु इतना अवश्य है कि किसी व्यक्ति के विचारों में जितनी ही अधिक समग्रता होगी, अर्थात् सम्भावनाओं के जितने ही अधिक पक्षों पर विचार करके सामंजस्यपूर्ण मत स्थिर किया जायेगा, उतना ही वह व्यक्ति अधिक लोगों के विचारों को सन्तुष्ट कर सकेगा तथा स्वयं भी दूसरों से उतना ही अधिक सहमत हो सकेगा, क्योंकि उसे ज्ञात होगा कि प्रायः प्रत्येक निष्ठावान व्यक्ति के विचार में कुछ न कुछ सत्यांश अवश्य है।

विचारशील व्यक्तियों को समानता के सूत्र का अनुदर्शन तो करना ही चाहिए, साथ ही सत्यान्वेषी मतभेद भी लाभकारी होता है, जो विद्वेषजनित न हो। वादे वादे जायते तत्त्वबोधः। हमारे देश में अनेक दर्शनों का उत्कृष्ट विकास स्वस्थ मतभेदों और शास्त्रार्थों के द्वारा हुआ। गांधी, लोहिया और दीनदयाल जैसे जननायकों की वैचारिक समानताओं और अन्तरों को भी हमें स्वस्थ दृष्टि से ग्रहण करना चाहिए और अन्त में हम कह सकते हैं कि गांधी जी अध्यात्मवादी थे, दीनदयाल जी एकात्मवादी तथा लोहिया समाजवादी; गांधी जी स्वातन्त्र्यवादी थे, दीनदयाल जी समग्रतावादी तथा लोहिया समतावादी। यदि गांधी को पाण्डुलिपि मान लिया जाय तो दीनदयाल उपाध्याय उसके नयी पीढ़ी द्वारा संपादित संस्करण हैं और लोहिया वह रूप हैं, जिसमें कुछ महत्वपूर्ण पृष्ठ किसी ने हटा दिये हैं तथा कहीं-कहीं पर तो मूल कथन के ऊपर उसके विपरीत विचार हाथ से लिख दिये हैं। गांधीवाद से एकात्म मानववाद तक की विचार-यात्रा राष्ट्रजीवन की एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी तक का स्वाभाविक विकास है, जबकि समाजवाद एक ऐसी सहयात्रा है, जिसका न्यूनाधिक महत्व राष्ट्रीय विचारधारा की दोनों पीढ़ियों ने स्वीकार किया है।

(गांधी दर्शन समिति, कलकत्ता के तत्त्वावधान में दिनांक २०-१-७९ को दिये गये व्याख्यान पर आधारित)

क्या धर्म-राज्य का अर्थ 'थ्योक्रेटिक स्टेट' है ?

"'थ्योकेटिक स्टेट' का अर्थ है—जहां पर किसी पंथ-गुरु का राज हो। एक पंथ के लोगों को सब अधिकार हों और अन्य पंथावलम्बी या तो रह ही न सकें अथवा दास या दूसरी श्रेणी के नागरिक बनकर रहें। रोमन साम्राज्य इसी आधार पर चलता था। 'खिलाफत' के पीछे भी यही कल्पना थी। 'खलीफा' के नाम पर ही संसार भर के मुसलमान बादशाह राज्य करते थे। किंतु यह 'खिलाफत' प्रथम विश्वयुद्ध के बाद समाप्त हो गयी। अब उसे पुनः पैदा करने का प्रयत्न किया गया है। पाकिस्तान में एक नयी 'थ्योकेटिक स्टेट' बनी है। वे अपने को इस्लामी राज्य कहते हैं। वहां मुसलमानों को छोड़कर बाकी जितने लोग हैं, वे दूसरी श्रेणी के नागरिक हैं, इसके अतिरिक्त इस्लामी शासन का और कोई रूप तो वहां नहीं दिखता। कुरान, मस्जिद, रोजा, ईद, नमाज आदि जैसी वहां हैं, वैसी भारत में भी हैं। अर्थात् राज्य और 'मजहब' को जोड़ने की आवश्यकता नहीं। इससे व्यक्ति का ईश्वर की उपासना करने का सामर्थ्य नहीं बढ़ता। हां, राज्य अपने कर्तव्यों से अवश्य च्युत हो जाता है। धर्मराज्य में यह नहीं होता, प्रत्युत् प्रत्येक को अपने संप्रदाय की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। 'थ्योकेटिक स्टेट' में एक पंथ को स्वतंत्रता और दूसरों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बंधन रहते हैं। धर्मराज्य व्यक्ति के विकास, उसके सुख और शांति में संप्रदाय का स्थान स्वीकार करता है। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह ऐसी अवस्थाएं पैदा करे जिसमें व्यक्ति अपने मतानुसार जीवनयापन कर सके। अपने मत को मानने की स्वतंत्रता में दूसरे के मत के प्रति सहिष्णुता स्वयमेव आती है।

"हम जानते हैं कि हर प्रकार की स्वतंत्रता की अपनी मर्यादाएँ होती हैं। मुझे हाथ घुमाने की स्वतंत्रता है, किंतु जैसे ही किसी दूसरे व्यक्ति की नाक और मेरे हाथ में संघर्ष आया कि मेरी स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। मुझे इतनी स्वतंत्रता नहीं कि अपना हाथ घुमाकर दूसरे की नाक पर मुक्का लगा दूं। जहां उसके नाक की नोक प्रारम्भ हुई की मेरी स्वतंत्रता सीमित हो गयी, क्योंकि उसकी नाक को भी तो स्वतंत्रता है। दोनों की स्वतंत्रता की रक्षा करनी होगी। वैसे ही प्रत्येक को अपने संप्रदाय की स्वतंत्रता है। किंतु 'मजहब' की स्वतंत्रता वहीं तक है, जहां तक वह दूसरे के 'मजहब' में हस्तक्षेप न करे। यदि दूसरे के संप्रदाय में हस्तक्षेप करता है तो कहना होगा कि वह स्वतंत्रता का दुरुपयोग है। इस प्रकार मर्यादाएँ हर स्थान पर रहेंगी। धर्मराज्य में 'मजहब' की स्वतंत्रता है, 'थ्योकेटिक स्टेट' में नहीं।

"आजकल 'थ्योकेटिक स्टेट' के विरुद्ध 'सेक्यूलर स्टेट' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह शब्द पश्चिम के लोगों से नकल करके लिया है। हमें इसकी आवश्यकता नहीं थी। पाकिस्तान से अलग बताने के लिये हमने 'सेक्यूलर स्टेट' शब्द का प्रयोग किया, पर इसके कुछ गलत अर्थ लगा लिये गये हैं। 'रिलिजन' का अनुवाद धर्म किया व 'सेक्यूलर स्टेट' का लोगों ने अनुवाद अधार्मिक राज्य किया। कुछ लोगों ने कहा धर्महीन राज्य और कुछ लोगों ने उस शब्द को अच्छा करने का प्रयत्न किया तो उन्होंने कहा धर्म-निरपेक्ष राज्य। परन्तु ये सबके सब अनुवाद पूर्णतया गलत हैं, क्योंकि राज्य तो धर्महीन नहीं हो सकता, धर्म-निरपेक्ष भी नहीं रह सकता, जैसे अग्नि तापनिरपेक्ष नहीं रह सकती। हो जाय तो क्या होगा ? अग्नि तापहीन हो जाय या वह ताप-विरोधी हो जाय ? कैसी भी हो जाय, परन्तु फिर वह अग्नि नहीं रहेगी। राज्य, जिसका काम ही यह है कि धर्म की व्यवस्था रहे, समाज में धर्म (Law and Order) रहे, वह धर्म से अलग कैसे रह सकता है ? इसलिये धर्म-निरपेक्ष राज्य तो नियमहीन राज्य हो जायेगा। जहां नियमहीनता है, वहां राज्य कहां ? अर्थात् धर्म-निरपेक्षता और राज्य, ये एक-दूसरे के विरोधी हैं। राज्य तो धर्मराज्य हो ही सकता है, दूसरा नहीं। दूसरे में तो उसके मूल कर्तव्य की ही उपेक्षा हो जायेगी।"

—दीनदयाल उपाध्याय

ट' है ?

मत हो गयी, क्योंकि
। दोनों की स्वतंत्रता
क को अपने संप्रदाय
ी स्वतंत्रता वहीं तक
में हस्तक्षेप न कर ।
करता है तो कहना
ोग है । इस प्रकार
राज्य में 'मजहब' की
हीं ।

विरुद्ध 'सेक्यूलर स्टेट'
यह शब्द पश्चिम के
में इसकी आवश्यकता
बताने के लिये हमने
किया, पर इसके कुछ
रिलिजन' का अनुवाद
ोंने अनुवाद अधार्मिक
धर्महीन राज्य और
करने का प्रयत्न किया
य । परन्तु ये सबके
कि राज्य तो धर्महीन
नहीं रह सकता, जैसे
ी । हो जाय तो क्या
या वह ताप-विरोधी
तु फिर वह अग्नि नहीं
ो यह है कि धर्म की
Law and Order)
सकता है ? इसलिये
न राज्य हो जायेगा ।
कहाँ ? अर्थात् धर्म-
दूसरे के विरोधी हैं ।
ता है, दूसरा नहीं ।
ही उपेक्षा हो जायेगी ।"

दीनदयाल उपाध्याय

शम्सुद्दीन

बौद्धकालीन भारत के शिक्षा-केन्द्र

भारत में विश्वविद्यालय जैसी बड़ी शिक्षा-संस्थाएँ बौद्धकाल में विद्यमान थीं। इस काल में नालन्दा, विक्रमशिला आदि विश्वविद्यालयों के जो संकेत पाये जाते हैं, उनसे हमारी आधुनिक शिक्षा-संस्थाओं की तुलना इन प्राचीन भारतीय शिक्षालयों से की जा सकती है। इनमें कोई भी विद्यार्थी, जो ज्ञानार्जन की तीव्र लालसा प्रकट करता था, निराश नहीं किया जाता था। शिक्षक भी जानबूझकर किसी कला या शास्त्र का ज्ञान अपने विद्यार्थियों से छिपाते नहीं थे। शिक्षार्थी गुरु के ही घर, जो गुरुकुल कहलाता था, रहते थे। गुरु और शिष्य साथ-साथ रहते थे। उनमें पिता और पुत्र के सदृश प्रेम रहता था, एक दूसरे के प्रति बड़ी ममता रहती थी।

गुरुकुल में विद्यार्थियों को सब आरामों का परित्याग करना पड़ता था। रात्रि में गुरु के सो जाने के पश्चात् वह बिस्तर पर जाता था और प्रातः गुरु के उठने के पूर्व ही उठ जाता था। वह घर (गुरुगृह) के सारे कार्यों में गुरु की सहायता करता था। गुरुकुल का जीवन अनुशासनपूर्ण रहता था। जहाँ तक सर्व-साधारण आवश्यकताओं का संबंध रहता था, गुरु और शिष्य दोनों ही सन्तुष्ट रहते थे। गुरु ऐश-आराम से नहीं रहते थे, अतः अन्हें कभी अभाव का सा जीवन व्यतीत नहीं करना पड़ता था। अनुशासन-भंग की समस्या कदाचित ही उठती थी, अतः दंड की भी आवश्यकता नहीं पड़ती थी। गुरुकुल की संपूर्ण कार्यप्रणाली एक स्वयंनिर्मित नियमावली पर आधारित रहती थी। शिष्य कभी भी गुरु से ऊँचा आसन ग्रहण नहीं करता था।

शिक्षा की उदारता :— तक्षशिला, नालंदा, कांची, विक्रमशिला और वाराणसी के विश्वविद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा बड़ी उदार थी। छात्रों के लिये निःशुल्क निवास, भोजन तथा वस्त्रों की व्यवस्था रहती थी। अपने क्षेत्र की शाला को सहायता व प्रोत्साहन देने के लिए ग्रामीणों में प्रतियोगिता होती थी। इसके अतिरिक्त विवाह, उपनयन सरीखे सामाजिक कार्यों के समय वे निःसंकोच दान देते थे। शिक्षक न केवल छात्रों को ज्ञान देते थे, वरन् उनकी भलाई व आवश्यकताओं के लिये गांव वालों से चंदा भी एकत्रित करते थे। कभी

कठिन समय आ जाने पर गुरु राजाओं के पास भी जाते थे और गुरुकुल की सहायता के लिये याचना करते थे। यदि विद्यार्थी योग्य और ज्ञानशक्ति का अभिलाषी रहता था, तो शिक्षक सदा उसे शिक्षा देने को तैयार रहता था।

इनकी अध्यापन-प्रणाली प्रधानतया मौखिक होती थी। यह मौखिक ही नहीं, वरन् व्यक्तिगत भी रहती थी। सुनना, विचार करना तथा अभ्यास (श्रवण, मनन, निदिध्यासन) करना उनकी प्रणाली की विशेषताएं थीं। लिखित पुस्तकें कम थीं। प्रत्येक बात कंठाग्र की जाती थी। उनका विश्वास था कि यदि ज्ञान पुस्तकों में है तो यह उस धन के समान है, जो दूसरों को उधार दिया हो। एक बार में गुरु के पास १५ से २० तक छात्र रहते थे तथा प्रारम्भ में एक बार में दो या दो से अधिक शब्द-समुदाय सिखाये जाते थे। प्रतिदिन जो कुछ भी पढ़ाया जाता था, बालक उसे उसी दिन पूर्ण रूप से हृदयंगम कर लेता था। जब तक विद्यार्थी एक पाठ का पूर्ण ज्ञान प्राप्त न कर ले, आगे नहीं पढ़ाया जाता था। कभी-कभी पुराने छात्र भी नवीन छात्रों को विद्याध्ययन कराते थे, बेल लेंकेस्टर प्रणाली, मानीटोरियल प्रणाली अथवा मदरसा प्रणाली अंग्रेजों ने इसी देश से प्राप्त की। शिक्षक दिन के किसी निश्चित समय में पुराने छात्रों को पढ़ाता था तथा पुराने छात्र अन्य किसी समय में नये छात्रों को पढ़ाते थे। यह संभव था, क्योंकि उस समय विद्यार्थियों की संख्या कम होती थी और उनके अध्ययन के विषय भी कम रहते थे। इस प्रकार उन दिनों सेवा-प्रथा प्रचलित थी।

नालन्दा : नालन्दा के संबंध में हमें चीनी यात्री यानच्यांग से, जिसने ईसा बाद ६२९ से ६४५ के बीच भारत का दौरा किया, पता चलता है। वह नालन्दा में १० वर्ष रहा। उसने पवित्र बौद्ध धर्मग्रंथों की नकल की है। उसके अनुसार वह स्थान धर्मगंज कहलाता था। विश्वविद्यालय के तीन विशाल भवन थे, जो क्रमशः रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरंजक कहलाते थे। इनमें से बीचवाला भवन नौमंजला था तथा इसमें पुस्तकालय रखा गया था। सब मिलाकर आठ बड़े कक्ष (हाल) तथा तीन सौ छोटे कमरे थे। भोजन की व्यवस्था सबके लिये एक-सी थी। प्रत्येक प्रांगण में एक कुआ था। हर एक कमरे में एक या दो छात्र रहते थे। प्रत्येक छात्र के पास एक बड़ी शिला (चबूतरा) होती थी। प्रत्येक कमरे में दीपक तथा पुस्तकें आदि रखने का स्थान रहता था। इनमें प्रवेश के लिये बड़ी भीड़ होती थी तथा प्रत्येक दस में से कठिनाई से तीन प्रवेश पाने में सफल होते थे। इतने पर भी इस संस्था में दस हजार छात्र तथा एक हजार शिक्षक थे। यह संस्था ईसा के बाद की ८वीं या ९वीं शताब्दी तक चलती रही।

अर्थव्यवस्था : भूमि के रूप में दिये गये दान पर संस्थाओं का खर्च चलता था। गुप्तवंश के राजाओं ने विश्वविद्यालय को चलाने के लिये २०० गाँव दान दिये थे। चूंकि यह बौद्ध संस्था थी, इसके शिक्षक भिक्षु होते थे। आश्चर्य की बात तो यह है कि फिर भी संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य था।

यहाँ यह गलत नहीं समझ लेना चाहिए कि संस्थाओं का प्रबंध अस्त-व्यस्त होगा। दूर-दूर के देशों, जैसे–चीन, तिब्बत, जावा, सुमात्रा, कोरिया, ईरान, अरब से छात्र यहाँ अपनी ज्ञानपिपासा की तृप्ति के लिये आते थे। वे दस-दस वर्ष से अधिक इन भारतीय विश्वविद्यालयों में रहते थे तथा तर्कशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र इत्यादि में विशेष योग्यता प्राप्त करते थे। यह निर्विवाद है कि इन विश्वविद्यालयों का स्तर बहुत ऊँचा था। आज जैसी आवागमन की सुविधाएँ न होते हुए भी विदेशों से छात्र इनकी ओर आकृष्ट होते थे और विद्याध्ययन के लिये आते थे। इन विद्यापीठों के उच्च स्तर का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि जीवक सरीखा प्रसिद्ध वैद्य, जो राजा-महाराजाओं का चिकित्सक था तथा जिसकी शुल्क (फीस) की राशि आठ अंकों से कम नहीं रहती थी, वैद्यकशास्त्र में निपुणता प्राप्त करने के लिये सात वर्ष विद्या प्राप्त करता रहा। इतने लम्बे काल तक रहने के बाद भी जब उसने विद्यापीठ छोड़ा, उसे अनुभव हुआ कि वैद्यकशास्त्र की पूर्ण ज्ञानप्राप्ति में अभी बहुत बाकी है। उन दिनों सैद्धांतिक शिक्षा का कोई महत्व नहीं था। वैद्य का सैद्धांतिक ज्ञान उस गधे के सदृश समझा जाता था, जिसे अपनी पीठ के बोझे का ज्ञान ही रहता है, किन्तु उसके

वस्तुगुण की महत्ता का अनुभव नहीं हो पाता।

व्यावहारिक ज्ञान की महत्ता : ओषधि तैयार करने की विद्या तथा शास्त्रविद्या के व्यावहारिक ज्ञान पर अधिक बल दिया जाता था तथा वैद्य को अपना व्यवसाय प्रारम्भ करने से पूर्व इसका प्रमाण-पत्र प्राप्त करना पड़ता था। ग्रीक इतिहासकार स्ट्रेब ने प्रमाणित किया है कि भारतीय बड़े निपुण चिकित्सक होते थे तथा सर्व-देश की चिकित्सा में विशेष योग्यता रखते थे। अनुभव-शून्य नये वैद्य बहुत योग्यताप्राप्त अनुभवी व्यक्तियों के अधीन रहकर शल्यविद्या का अभ्यास करते थे। अंत-ड़ियों के स्थानांतरण, गहरे फोड़े, मोतियाबिंद, अंडवृद्धि की चीरफाड़ तथा गर्भाशय से मृतक बच्चे के निकालने आदि की क्रिया केवल निपुण शल्य-चिकित्सक ही कर सकते थे। रोगियों को पीड़ा का अनुभव न हो, इसके लिये उन्हें तीव्र मदकारक दिया जाता था।

न केवल मनुष्य, वरन् पशुओं को भी पूर्ण वैद्यक से सहा-यता मिल जाती थी। संसार के इतिहास में प्रथम बार महान राजा अशोक ने पशुचिकित्सा की पूर्ण सामग्री के साथ पशु-चिकित्सालय का निर्माण किया। नकुल और सहदेव सरीखे महान पशुचिकित्सकों का नाम आज भी इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णांकित है।

इसी प्रकार रणक्षेत्र से घायल सैनिकों को उठाने तथा रोगियों को ले जाने वाली गाड़ी (एम्बुलेन्स) का भी प्रयोग होता था। क्रीमियन युद्ध के पहले हम यूरोप के इतिहास में कहीं इस प्रकार की गाड़ी का संकेत नहीं पाते। यही नहीं, बगदाद के खलीफ़ा हारून अल-रशीद के सख्त बीमार होने पर, जबकि अरब के चिकित्सकों ने उनके नीरोग होने की सब आशा छोड़ दी थी, भारत के प्रसिद्ध वैद्य मानक व अन्य चिकित्सकों की सहायता ली गयी थी। अच्छे हो जाने पर स्वयं खलीफा ने मानक से प्रार्थना की कि वे उनके पास ही रहकर आयुर्वेदिक ग्रंथों का अरबी में अनुवाद करें। उसने भारतीय स्त्री-रोगविदों तथा प्रसव करानेवाली दाइयों को बुलाकर उनसे अपने वैद्यक-विद्यार्थियों के लिये किताबें लिखवाने की इच्छा प्रकट की। इस प्रकार भारत के वैद्यों का स्थान बहुत ऊँचा था, किन्तु बाद में ओषधालयों का स्तर अस्वच्छता के कारण दिन पर दिन गिरता गया।

ईसा के बाद की आरम्भिक शताब्दियों में तक्षशिला विश्वविद्यालय वैद्यक-शास्त्र के अध्ययन में अपनी उन्नति के चरम शिखर पर था। इसी प्रकार उज्जैन के प्रसिद्ध विद्यापीठ में गणितशास्त्र और ज्योतिष के विशेष योग्यता-प्राप्त प्राध्यापक थे तथा उन्होंने एक बड़े वेधगृह की भी स्थापना की थी, जहाँ ग्रह, नक्षत्र आदि का निरीक्षण किया जाता था। दक्षिण भारत में भी कांचीपुरम में एक बड़ा प्रसिद्ध शैक्षणिक केन्द्र था।

ब्रह्मचर्य : नालंदा में आजीवन ब्रह्मचर्य से रहने के कई उदाहरण पाये जाते हैं। मेगस्थनीज ने भी ऐसे उदाहरण दिये हैं जिनके अनुसार ब्राह्मण ४८ वर्ष तक विद्याध्ययन करते पाये जाते थे। वे तर्कशास्त्र, व्याकरण-शास्त्र व अन्य दार्शनिक विषयों का अध्ययन करते थे, जिन्हें आज भी महत्व दिया जाता है तथा जो मानवीय विज्ञान में सम्मिलित किये गये हैं।

उन दिनों सबको समान सुविधाएँ दी जाती थीं। धनी और निर्धन में कोई अन्तर नहीं रखा जाता था। राज-कुमार और गरीब किसान एक ही गुरु के पास एक समान शिक्षा प्राप्त करते थे।

प्राचीन काल में शिक्षा निःशुल्क, अनिवार्य, व्यापक, वैज्ञानिक तथा अनुशासित होती थी। विश्वविद्यालयों के सहायतार्थ देशी-विदेशी राजाओं द्वारा बहुत सा दान दिया जाता था। शिक्षा का अन्तिम ध्येय आत्मिक मुक्ति रहता था, साथ ही जीवन में कर्म की प्रधानता में उनका विश्वास था। स्वयं कार्य तथा स्व-नियुक्ति द्वारा वे जीवन में सफलता प्राप्त करते थे। शिक्षा जीवन के सामान्य सिद्धान्तों से प्रभावित रहती थी और उनको बल देती थी।

—७/१५०, बैजनाथपारा,
रायपुर (मध्य प्रदेश)

पुस्तक-समीक्षा

समुद्रगुप्त पराक्रमांक : लेखक : डा० रामकुमार वर्मा, प्रकाशक : दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया, नयी दिल्ली; मूल्य ७ रु०।

प्रख्यात प्राध्यापक, कवि, नाटककार डा० रामकुमार वर्मा का यह नवीनतम नाटक उनकी पूर्व-कृतियों के समान ही रोचक, सुरुचि-सम्पन्न एवं प्रेरणादायक है। इस नाटक में हम अपनी उस गौरवपूर्ण संस्कृति के दर्शन कर सकते हैं, जो भागीरथी की धारा के समान राह के शिलाखंडों को पार कर कोटि-कोटि जनों को तृप्त करती आयी है और भारतभूमि के कण-कण को अपने अमृत-रस से अभिसिंचित करती आयी है।

समुद्रगुप्त पराक्रमांक चौथी शताब्दी में अपने देश के अत्यन्त प्रतापशाली सम्राट हुए हैं, जिनकी दिग्विजय-कीर्ति अनेक शिलालेखों और ताम्रपत्रों में उत्कीर्ण होकर अमर बन गयी है। उनके जीवन की घटनाएं और उनके बहुमुखी गुण युग-युग तक संवेदन-क्षम हृदयों को प्रेरणा देने में समर्थ हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने इन्हें अपने नाटक में सजीव बना दिया है। उन्हीं की छत्र-छाया में नवोदित चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और उनकी प्रेयसी ध्रुवस्वामिनी की झाँकियाँ भी अपने सौन्दर्यालोक से मुग्ध कर जाती हैं।

नाटक का चरमोत्कर्ष हमें सम्राट समुद्रगुप्त की संगीत-कला की शक्ति का परिचय कराता है, जिसके प्रभाव में भूल करने वाला विह्वल होकर अपनी भूल स्वीकार कर लेता है और अपराधी अपने आपको स्वयं दंडित कर प्रायश्चित कर लेता है। जीवन-माधुर्य के इस परिप्रेक्ष्य में समुद्रगुप्त पराक्रमांक का अतुलित शौर्य और भी समोज्ज्वल हो उठता है।

भाषा-चयन देश-काल के अनुरूप है, जिससे पाठक की कल्पना में गुप्तकाल का भारत साकार हो उठता है। आशा की जा सकती है कि योग्य अभिनेताओं और दिग्दर्शकों के हाथों में यह नाटक रंगमंच पर सफलता-पूर्वक प्रस्तुत किया जा सकेगा और इसकी संस्कृत-निष्ठ भाषा को कुशल हावभाव तथा अभिनय-क्रियाओं द्वारा सामान्यजनों के लिये बोधगम्य बनाया जा सकेगा।

—डा० चन्द्रकान्त भारद्वाज
(हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय)

हिन्दी कहानी : सातवाँ दशक—लेखक : श्री प्रह्लाद अग्रवाल, प्रकाशक—दि मैकमिलन कंपनी, नयी दिल्ली, द्वि० सं० १९७७, पृष्ठ १६०, मूल्य १८.००

नौ चुनी हुई कहानियों के साथ ७३ पृष्ठ की भूमिका में आलोचक श्री अग्रवाल ने कई दृष्टियों से हिन्दी कहानी पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। आलोचक के मत में प्रेमचन्द ने ही सबसे पहले कहानी विधा को अर्थवत्ता प्रदान की तथा उसे जीवन और जगत् के निकट लाने का विधायक उद्योग किया। गुलेरी और प्रसाद ने प्रेमचन्द से पूर्व लिखना आरम्भ किया था, किन्तु कहानी ने उनके मार्ग का अनुशीलन नहीं किया। प्रेमचन्द समाज से अधिक जुड़े हुए हैं। इनके पश्चात् जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी का युग आता है। इनकी कहानियों में समाज गौण हो गया और व्यक्ति उभर कर सामने आया। इनकी कहानियाँ आत्मकेन्द्रित हैं और उनमें दुर्बोध रहस्यात्मकता की संवेदना अभिव्यक्त हुई है। इन कथाकारों ने कहानी को मोड़ा अवश्य, पर शीघ्र ही कहानी पुनः अपने स्वाभाविक पथ पर चल पड़ी। लेखक ने और भी कई कहानीकारों के विषय में टिप्पणियाँ देकर स्वातंत्र्योत्तर समर्थ रचनाकारों के रूप में राकेश, यादव और कमलेश्वर का उल्लेख किया है। आंचलिक कथाकारों तथा स्वातंत्र्योत्तर श्रेष्ठ कथाकारों की चर्चा कर श्री प्रह्लाद ने एकमात्र सफल व्यंग्य-कथाकार हरिशंकर परसाई को माना है (मेरे मत में इनका व्यंग्य पैना तो होता है, किन्तु ये राजनीतिक पक्षपात से मुक्त नहीं हैं)।

स्वतंत्रता के आसपास जन्मी पीढ़ी ने पराधीनता की पीड़ा नहीं भोगी थी। वह अतीत के माधुर्य से मुक्त थी। उसने जो कुछ पाया, वह कड़वा और गंदा था। (इस पीढ़ी में ऐसे युवक भी हैं, जो किसी भी प्रकार के दायित्व से मुक्त हैं। ये घोर भोगवादी निकले, इन्हें किसी प्रकार की साधना नहीं करनी पड़ी। ये युवक परिवार में समस्या बने। पता नहीं सातवें दशक में इन्हें कहानी का विषय बनाया गया था कि नहीं।)

स्वतंत्रता के पश्चात् भयंकर मूल्यहीनता दिखायी पड़ी। यह वह समय था जब व्यक्ति को समाज से कटकर आत्म-निर्वासन भुगतने को बाध्य होना पड़ा। पहले का कहानीकार तटस्थ नहीं रह पाया था। आज का कहानीकार कहानी को जीता है और घटनाओं से निरपेक्ष होकर उन्हें यथातथ्य प्रस्तुत करता है। वह अपनी कुरूपता पर आदर्शों की लीपापोती नहीं करता। आज का कहानीकार महानगरीय कुरूपता का चित्रण करता है। यदि वह इसमें रस लेता है तो अश्लील कहा जा सकता है, अतः लेखकीय तटस्थता अत्यंत आवश्यक है।

श्री प्रह्लाद ने पीढ़ियों के संघर्ष की ओर भी इंगित किया है। अब परिवार भीतर से जुड़े नहीं रह गये हैं, उनके पारस्परिक स्नेह-संबंध पहले जैसे नहीं हैं। कुछ कथाकारों ने इस स्थिति को सचाई से ग्रहण किया है, किन्तु अनेक लेखकों के लिये यह मानसिक विलास था, उन्होंने इसे फैशन के रूप में अपनाया।

यूरोपीय 'टेरर' और भारतीय संत्रास में अंतर बताया गया है। यहाँ आणविक युद्ध की विभीषिका हमने नहीं भोगी, तथापि तीन-तीन युद्ध हमने झेले हैं। हमारे युवकों में विद्रोह जाग रहा है, किन्तु नौकरी न मिलने तक ही यह अस्तित्व में रहता है।

प्रतिबद्धता के प्रश्न पर आलोचक का मत है कि कथाकार को अपनी रचना से प्रतिबद्ध होना होगा। किसी वाद, विचारधारा आदि से व्यावहारिक पक्ष छोड़ कर जुड़ना एकांगी ही नहीं, घातक होगा।

सातवें दशक के कहानीकारों में ज्ञानरंजन, काशीनाथ सिंह, रामनारायण शुक्ल, गिरिराजकिशोर, दूधनाथ सिंह, डा० माहेश्वर, ममता कालिया, महेन्द्र भल्ला, रवीन्द्र कालिया, ज्ञानप्रकाश, सुधा अरोड़ा, श्रीकान्त वर्मा, प्रयाग शुक्ल और गंगाप्रसाद विमल पर टिप्पणी की गयी है।

इस दशक का प्रतिनिधित्व करने वाले नौ कहानीकारों की कहानियाँ इस पुस्तक में समाहित हैं। ये नाम छोड़ अन्य कोई नौ नाम चुने जाते तो वे भी अविवादास्पद न होते। कथा-संख्या–१. काशीनाथ सिंह की 'तीन काल-कथा' अकाल की विभीषिका, समाज की स्वार्थपरता और पुलिस की कर्मण्यता (?) पर तो व्यंग्य करती ही है, अकालग्रस्त जनों के प्रति प्रधानमंत्री की दिखावटी प्रचारात्मक सहानुभूति पर अत्यंत चुटीला प्रहार करती है। २. 'नया चश्मा' में गिरिराजकिशोर ने दो-दो नेताओं को एक साथ विवस्त्र किया है। ३. 'स्वर्गवासी' में दूधनाथ सिंह ने एक विचित्र स्वार्थी और गलीज से व्यक्ति का चित्रण किया है। ४. ममता कालिया की 'छुटकारा' कहानी में किसी एक क्षण की स्थिति को नये शिल्प में भले ही रूपायित किया गया हो, किन्तु प्रश्न उठता है–क्या यह कहानी है? यदि है तो इसकी अर्थवत्ता? ५. महेन्द्र भल्ला 'कुत्तेगीरी' वाली स्थितियों का चित्रण अपनी अन्य कृतियों में अधिक सफलता से कर सके हैं। ६. 'पेशाब' में डा० माहेश्वर ने कहना चाहा है कि आर्थिक विवशता में पति-पत्नी अपने बच्चों के साथ एक ही कमरे में सोते हैं, उनकी रतिक्रिया बच्चा देख लेता है तो विचित्र ग्रन्थि का शिकार होता है। यह एक सही स्थिति का चित्रण है, किन्तु एक गरीब परिवार के लिये यह स्थिति सातवें दशक के पहले भी रही है। हाँ, उसके चित्रण का दुःसाहस माहेश्वर ने ही दिखाया है। लेखक ने कितनी भी तटस्थता क्यों न दिखायी हो, इसमें कुछ तो कुरुचि आ ही गयी। ७. 'डाब' में रामनारायण शुक्ल विसंगतियों से जूझते, थके-हारे और अशान्त व्यक्ति की अनोखी प्यास का चित्रण करते हैं, जो मानवीय जिजीविषा की आंतरिक छटपटाहट व्यक्त करती है। ८. रवीन्द्र कालिया की 'काला रजिस्टर' में दफ्तर की काली व्यवस्था का चित्रण है, जिसमें अयोग्य, ईर्ष्यालु और कर्तव्यहीन अधिकारी के आतंक में पिसकर क्रान्तिकारी कर्मचारी भी दयनीय कुत्ते सा जीवन

जीने के लिये बाध्य होते हैं। लाक्षणिक भाषा ने कालिया के व्यंग्य को और भी पैना कर दिया है। ९. अंतिम कहानी 'घंटा' (ज्ञानरंजन) में विलासमयी खोखली नवसभ्यता का पर्दाफाश किया गया है।

आश्चर्य है कि आज के रचनाकार और समीक्षक एक तथ्य की ओर क्यों आँखें मूंदे हुए हैं? आज देश की चिन्तन-शक्ति बहुत कुछ स्वार्थी नेताओं की मुट्ठी में है। वे सत्ता हथियाने के लिये आयातित अथवा गढ़े हुए नारों का निरन्तर प्रयोग कर देश के बहुमत की संस्कृति और उसकी आशा-आकांक्षा पर पक्षपात-पूर्ण प्रहार में ही पुंसत्व और प्रगतिशीलता देखते हैं। इस नकली, स्वार्थी प्रगतिशीलता का मुखौटा उतार फेंकने का साहस अथवा इसकी समझ कहीं भी दृष्टिगत नहीं।

लेखक की यह प्रथम प्रकाशित पुस्तक एक सीमित क्षेत्र में उसकी गहरी पैठ का परिचय देती है। अपने विवेचन में वह पर्याप्त तटस्थ रहा है। पुस्तक की साज-सज्जा ठीक है, किन्तु प्रूफ की कई खटकने वाली भूलें हैं।

—डा० रमानाथ त्रिपाठी
(हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय)

अवकाश का लाभ लेकर इस बार मंथन जुलाई, '७९ अंक आद्योपान्त रुचि के साथ गंभीरतापूर्वक पढ़ा ही नहीं, अध्ययन किया। कई बार मन में प्रशंसा करने, आलोचना करने की तथा अनावश्यक सलाह देने की बात उठती रही। अन्त में कुछ लिख भेजना तय कर लिख रहा हूं।

देश में पत्र-पत्रिकाओं की कमी नहीं है, पर भारतीयता के आधार पर और भारतीय बुद्धि को परिपक्वता प्रदान करने वाली तथा भारत में उपलब्ध वेद-उपनिषद्, रामायण-महाभारत में वर्णित उच्चकोटि के विचारों का सम्पादन करने वाली पत्रिका की कमी विचारक अनुभव करते हैं। बौद्धिक-सांस्कारिक विकास के लिये यह त्रैमासिक अनुपम और अनूठा है।

आज का पाठक सरल विचार सरल ढंग और सरल तथा के समान उपयोगी है। पाठक को आगे पढ़ने की तैयारी के साथ अभिरुचि बढ़ाता है। आशा है सम्पादक जी! इसकी महत्ता को समझते हुए, पुरुषार्थ-चतुष्टय का दर्शन साधारण पाठक कर सकें, दीनदयाल जी के एकात्म-स्वरूप का विराट पुरुष के रूप में दर्शन पा सकें, अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हेतु आप—आपकी लेखनी—सेतु का काम करे।

अपने देवी और देवता का स्वरूपवर्णन वैज्ञानिक और तथ्यपूर्ण है। 'चतुर्भुज विष्णु' का चित्रण पाठक को प्रेरणादायक है। उसी प्रकार सरस्वती की जल के ऊपर शतदल कमल पर श्वेत वस्त्र में वीणाधारिणी की कल्पना भी वैज्ञानिक तथा तथ्य का विवेचन करती है। इस प्रकार वास्तव में मंथन मूर्ति की ओर नाक-भौं सिकोड़ने वाले को भी इस ओर आकर्षित कर भारतीय विचार और शिल्पकला की ओर नतमस्तक होने के लिये

आपके पत्र

सरस भाषा में पढ़ना चाहता है। पत्रिका की सामग्री गंभीर है, शैली विचार प्रकट करने की सांस्कारिक और कठिन है। भाषा सरल बनाने के प्रयास के बाद भी चलती-फिरती नहीं बन पायी। इसका क्षेत्र साधारण पाठक नहीं, बल्कि जिन्हें विवेचन करने, विचार करने का अभ्यास है, उनके लिये बन गया है। विषय को देखते हुए यह स्वाभाविक लगता है, फिर भी अनुरोध होगा कि भाषा की सरलता और सरसता अपेक्षित है।

जगह-जगह दीनदयाल जी के विचारों का पुट करना वास्तव में अंगूठी में मोती जड़ने के समान, गागर में सागर भरने के समान बन गया है। इसका उपयोग इस प्रकार सटीक ढंग से बराबर करते रहना मंथन की सार्थकता सिद्ध करता है।

सम्पादक जी का सम्पादकीय वस्तुस्थिति का, विषयप्रवेश बाध्य करेगा। डा० माचवे का निबंध समयानुकूल, विचारणीय और राष्ट्र के आत्मा की पुकार के समान है। दलगत राजनीति से ऊपर उठकर भारत को समझने का आह्वान है। 'भारतीय भाषाओं का संयोजक तंतु' हिन्दी ही हो सकती है। कर्म में कुशलता ही योग है—यह पत्रिका के साथ भी सार्थक है। भारतीय वाङ्मय आज भी वैज्ञानिक जगत् को कुछ दे सकता है—'समुद्र-मंथन' एक प्रमाण है।

समाज में सत्य, सौन्दर्य और न्याय के प्रति धारणाशक्ति बनी रहे, यही काम एक ओर धर्म का है, दूसरी ओर सच्ची राजनीति का है। धर्म के विषय में भ्रान्ति को दूर करने वाला सक्षम लेख है।

आज का युग श्रम-प्रधान है। श्रम और श्रमिक की महत्वपूर्ण भूमिका उजागर हुई है। 'भारतीय श्रमिक-

आन्दोलन' को भारतीय परिप्रेक्ष्य में रखने का प्रयास किया गया है। इसको और भी साफ करना चाहिए। पहले का सब कुछ ठीक ही था, ऐसा शायद इस संदर्भ में प्रमाणित करना सरल नहीं है। चित्र साफ हो तो अच्छा है।

विश्वनाथप्रसाद वर्माजी का विवेचन वेदकालीन राजनीति का : महान ग्रन्थ के दो अंश होते हैं–ऐतिहासिक वस्तु-स्थिति का चित्रण और उसका आश्रय लेकर एक चिरंतन संदेश का अभिज्ञापन। उन्होंने आगे चलकर कहा–सच्ची नैतिकता से युक्त कर्मयोग तभी व्यक्त होता है, जब व्यापक आत्मकल्याण तथा जन-कल्याण को सामने रखकर सत्कर्म का पालन होता है। इसके आगे और कहा–स्वराज्य का आदर्श वेदों का प्रथम राजनीतिक संदेश है, उनका दूसरा महान राजनीतिक आदर्श है जनमत को राज्य का आधार बनाना। यह निबंध वास्तव में मील के पत्थर के सामन अध्ययन करने वाले का मार्गदर्शन करता रहेगा।

बीच-बीच में दीनदयाल जी का विचार इस प्रकार रखा गया है कि पढ़ने वाले को राजनीतिशास्त्र का औपन्यासिक आनन्द और सीख दे देता है। जनतंत्र की भागीरथी का अटूट स्रोत सहिष्णुता ही है। भारतीय संस्कृति का आधार सहिष्णुता है। जनतंत्र में सरकार विरोधी दल को सहन ही नहीं करती, अपितु उसका विश्वास भी करती है। ये विचार राजनीतिक आचार-संहिता के नमूने हैं।

व्यक्ति व समष्टि और एकात्मवाद एक गंभीर, प्राण-वान निबंध है। इस प्रकार की जितनी भी व्याख्या की जाय उसकी आवश्यकता है। पाठकों के समझने के लिये और फिर उसका कार्यान्वयन के लिये भी। इसका विश्लेषण पंडितजी के विचारों को समझने के लिये आवश्यक है। "व्यष्टि की उपासना कर मृत्यु को जीतना चाहिए और समष्टि की उपासना कर अमरता प्राप्त करनी चाहिए। व्यक्ति मरणशील है, जबकि समष्टि अमर है।" पंडितजी ने मानव को पूर्ण इकाई के रूप में देखा, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की चार मूल प्रेरणाओं से प्रेरित है। मनुष्य मन, बुद्धि, आत्मा और शरीर, नारों का समुच्चय है।

दशावतारों की कथा भारतीय राष्ट्रीय जीवन के क्रमश: विकास का इतिहास है या Evolution theory of Human being है। बाबा साहेब आप्टे इस युग के एक चिंतक, विचारक ऋषि हो गये हैं। इस दशावतारों की कथा के रूप में भारतीय समाज, राजनीति आदि सभी अंगों की विशद व्याख्या की है। लेखक ने इस ओर पाठकों का ध्यान सफलतापूर्वक आकर्षित किया है।

मैं इसे पढ़ता गया, सोचता गया कि जीवन, राष्ट्रीय जीवन का कौनसा प्रमुख भाग इस पत्रिका का विषय नहीं रहा तो आगे पढ़ने पर मैं खोया महानगर में। 'महानगरों में खोया जीवन' के माध्यम से वर्तमान परिस्थिति का सजीव चित्र उपस्थित किया गया। आज का सबसे आकर्षण सिनेमा है। पत्रिका ने चित्रपट का वस्तुपरक चित्र उपस्थित किया। भारतीय चलचित्रों की सही जानकारी पाठकों को दी।

आज जब पत्र-पत्रिकाएं नवयुवकों की भावनाओं को उभाड़ने वाले समाचार, लेख, चित्र और कहीं न कहीं सेक्स का समावेश कराकर अपनी बिक्री की गारंटी अवश्य कर लेना चाहते हैं, मंथन विचारों का, सिद्धान्तों का, तथ्यों का, समस्याओं आदि का मंथन करता है और अपने पाठकों के लिये सुविचारित पत्रिका के रूप में उपस्थित होकर एक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति की है।

शुभकामनाओं के साथ,

—जगदम्बीप्रसाद यादव
(भू० पू० केन्द्रीय राज्यमंत्री)
५, जनपथ, नयी दिल्ली–११०००१

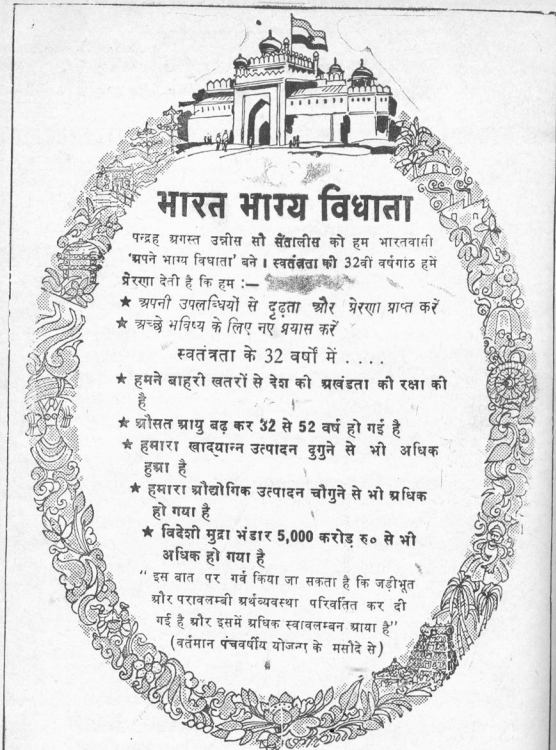
भारत भाग्य विधाता
पन्द्रह अगस्त उन्नीस सौ सैंतालीस को हम भारतवासी 'अपने भाग्य विधाता' बने। स्वतंत्रता की 32वीं वर्षगांठ हमें प्रेरणा देती है कि हम :—
★ अपनी उपलब्धियों से दृढ़ता और प्रेरणा प्राप्त करें
★ अच्छे भविष्य के लिए नए प्रयास करें
स्वतंत्रता के 32 वर्षों में . . . .
★ हमने बाहरी खतरों से देश की अखंडता की रक्षा की है
★ औसत आयु बढ़ कर 32 से 52 वर्ष हो गई है
★ हमारा खाद्यान्न उत्पादन दुगुने से भी अधिक हुआ है
★ हमारा औद्योगिक उत्पादन चौगुने से भी अधिक हो गया है
★ विदेशी मुद्रा भंडार 5,000 करोड़ रु० से भी अधिक हो गया है
" इस बात पर गर्व किया जा सकता है कि जड़ीभूत और परावलम्बी अर्थव्यवस्था परिवर्तित कर दी गई है और इसमें अधिक स्वावलम्बन आया है"
(वर्तमान पंचवर्षीय योजना के मसौदे से)
हमें अपनी उपलब्धियों पर गर्व है आइए!
स्वतंत्रता और समृद्धि के लिए हम एक जुट हो जाएं
davp 79/162

हमारे कुछ अन्य प्रकाशन

१.	पं. दीनदयाल उपाध्याय: व्यक्ति दर्शन सं० कमलकिशोर गोयनका		१२.००
२.	तत्त्वविज्ञान (भारतीय तत्त्वज्ञान और आधुनिक विज्ञान : तुलनात्मक अध्ययन) डा० हरिश्चन्द्र बथ्वाल		१२.००
३.	हटाओ एमरजेंसी सं० डा० एन० एम० घटाटे		१.५०
४.	एकात्म-दर्शन पं० दीनदयाल उपाध्याय व अन्य	विशिष्ट	१२.००
५.	गांधी, लोहिया और दीनदयाल सं० डा० हरिश्चन्द्र बथ्वाल	विशिष्ट	२०.००
6.	Gandhi, Lohia & Deendayal P. Parameswaran (Ed.)	Paperback	10.00
7.	Integral Approach	Deluxe	12.00
	Pt. Deendayal Upadhyaya & Others	Paperback	5.00
8.	The Indian Spirit M. P. Pandit		12.00

दीनदयाल शोध संस्थान

७-ई, स्वामी रामतीर्थ नगर,
नयी दिल्ली-११००५५

(समाचार-पत्र-पंजीयक, भारत, नयी दिल्ली) पंजीयन-संख्या आर० एन०—३२४८६/७

शीघ्र प्रकाशित हो रहा है

एकात्म मानववाद के

"आ या म"

स्व० पण्डित दीनदयाल उपाध्याय द्वारा प्रतिपादित एकात्म मानववाद आज देश-विदेश के सभी मनीषियों के बीच आकर्षण, अध्ययन, चिन्तन एवं प्रेरणा का विषय बन गया है। राष्ट्र एवं मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में पण्डितजी की मीमांसा एवं स्थापनाएं ऋषिवाणी के समान सिद्ध हुई हैं।

"आयाम" के माध्यम से पण्डितजी के एकात्म-दर्शन की आधुनिक परिप्रेक्ष्य में व्याख्या तथा विस्तार करने का दुष्कर परन्तु आवश्यक प्रयास किया गया है। यह पुस्तक एक अनमोल बौद्धिक उपलब्धि है, जिसमें स्वा० रंगनाथानन्द, श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी, डा० सुब्रह्मण्यम स्वामी प्रभृति विद्वान विचारकों ने पण्डितजी के दर्शन के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला है। एकात्म मानववाद को गहराई से समझने में "आयाम" एक उत्तम साधन सिद्ध होगा। पण्डितजी द्वारा उद्घोषित सिद्धान्तों का अनेक नवीन दिशाओं में अनुप्रयोग भी इससे सिद्ध होगा।

प्रकाशक :

दीनदयाल शोध संस्थान,

७-ई स्वामी रामतीर्थ नगर,
नयी दिल्ली-११००५५

दीनदयाल शोध संस्थान, नयी दिल्ली-११००५५ के लिये पी० परमेश्वरन (निदेशक, दी० शो० सं०) द्वारा सम्पादित, प्रकाशित व मुद्रित। नवचेतन प्रेस (प्रा०) लि० द्वारा नवजीवन प्रिण्टर्स, 1 ई/2 झण्डेवालान एक्सटेंशन, नयी दिल्ली-११००५५ में मुद्रित।